तुलसी के अध्ययन की नई दिशाएं

रामप्रसाद मिश्र

तुलसी के अध्ययन की नई दिशाएँ

तुलसी के अध्ययन की नई दिशाएँ

विद्वद्वर डॉ० मोहन अवस्थी
को
सादर

रामप्रसाद मिश्र.
३/१०/१९८८

डॉ० रामप्रसाद मिश्र

भारतीय ग्रन्थ निकेतन
२७१३, कूचा चेलान, दरियागंज,
नयी दिल्ली-११०००२

उन दो विद्वान् मित्रों को जिन्होंने बिना देखे-सुने

और

बिना जान-पहचान के भी

मेरे

गरलमय जीवन में अमृत

भरा

☐

डॉ० सरगु कृष्णमूर्ति
आचार्य एवं अध्यक्ष
हिन्दी-विभाग
बंगलूर विश्वविद्यालय
बंगलूर

डॉ० मोहन अवस्थी
आचार्य, हिन्दी-विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

को

सादर

समर्पित

तुलसी के प्रति[1]

ओ महाकवे ! क्या कहें तुम्हें,
ऋषि? स्रष्टा? द्रष्टा? महाप्राण?
अपनी पानवतम वाणी से
तुम करते संस्कृति-परित्राण।
मेरी संस्कृति के विश्वकोश
के निर्माता जनकवि उदार,
ओ भाषा के सम्राट, राष्ट्र
के गर्व, भक्तिपीयूषधार !
अचरज होता, तुम मानव थे,
तन में था यह ही अस्थि-चाम !
ओ अमर संस्कृति के गायक
तुलसी ! तुमको शत-शत प्रणाम।

कितने कृपालु तुम हम पर थे,
जनवाणी में गायन गाए !
सद्ज्ञान, भक्ति औ कविता के
सब रस देकर मन सरसाए।
मानवता की सीमाओं को
दिखलाया अपने पात्रों में,
ब्रह्मत्व भर दिया महाकवे !
तुमने मानव के गात्रों में।
वसुधा पर स्वर्ग उतार दिया
मेरे स्रष्टा, ओ आप्तकाम !
ओ अमर संक्रृति के गायक
तुलसी ! तुमको शत शत प्रणाम।

—रामप्रसाद मिश्र

---

१. मेरी यह कविता २० जुलाई १९५८ ई० के धर्मयुग में प्रकाशित हुई थी, जिसमें रचयिता का नाम मेरा उन दिनों का साहित्यिक अभिधान आनंद-शंकर लिखा था।

भूमिका

तुलसीदास संसार-साहित्य के एक सीमांत हैं। सर्वरसनिष्पत्ति, सर्वालंकार प्रयोग, सर्वशैलीसाफल्य, शब्दसामर्थ्य, वस्तुकाव्य-आत्मकाव्य-वैदग्ध्य, युगचित्रण, संस्कृति-रक्षण, दर्शन, मानवमूल्य-प्रतिपादन, लोकप्रभाव इत्यादि में वे प्रायः अतुलनीय हैं। उन्हें राजबहादुर लमगोड़ा से दिनकर तक अनेक विद्वानों एवं कवियों ने संसार का सर्वश्रेष्ठ कवि तक माना है। मैंने 'विश्वकवि तुलसी और उनके काव्य' (१९७३ ई०) में वाल्मीकि, व्यास, होमर, वर्जिल, कालिदास, फ़िरदौसी, दांते, शेक्सपीअर, मिल्टन इत्यादि से तुलना करते हुए उनकी आलोचना में वैश्विकता के आयाम का उद्‌घाटन किया था। सम्प्रति आवश्यकता है तुलसी के अध्ययन की नई दिशाओं को खोलने की क्योंकि रूढ़ आलोचना एक ओर चर्वित-चर्वण की ऊब पैदा कर रही है, दूसरी ओर राजनीति का कैंसर। तुलसीदास के जीवन पर कल्पित बाबा वेणीमाधवदास के कल्पित गोसाईंचरित एवं कल्पित बाबा रघुवरदास के कल्पित तुलसीचरित से लेकर स्वर्गीय डॉ० रामदत्त भारद्वाज कृत शोधग्रंथ 'तुलसीदास और उनका साहित्य' एवं अमृतलाल नागर कृत उपन्यास 'मानस का हंस' तक जो रमरसरा छेड़ा गया है, उससे विरत होकर बौद्धिक ऊहापोह अपेक्षित है। तुलसीदास के प्रगतिशील मानवतावाद एवं प्रशस्य नारी-संवेदन पर प्रकाश डालना आवश्यक है। उनके रामचरितमानस, विनयपत्रिका, कवितावली एवं गीतावली पर क्रमशः अत्यधिक, पर्याप्त, पर्याप्तप्राय एवं संतोष-जनकप्राय कार्य हो चुका है किन्तु क्रमिक श्रेष्ठता में प्रशस्य दोहावली, पार्वती-मंगल, जानकीमंगल, बरवै-रामायण, श्रीकृष्णगीतावली, रामललानहछू, वैराग्य-संदीपिनी एवं रामाज्ञा-प्रश्न पर नगण्यवत् या नगण्य कार्य ही प्राप्त होता है। राम पर भी नूतन दृष्टि से विचार अपेक्षित है। यह ग्रंथ इन दिशाओं को खोलने के लिए ही प्रस्तुत किया जा रहा है। इसमें 'विश्वकवि तुलसी और उनके प्रमुख काव्य' (१९८६ ई०) की किसी भी सामग्री का प्रयोग नहीं किया गया तथा प्रस्थान-ग्रंथ 'विश्वकवि तुलसी और उनके काव्य' की सामग्री में बहुत-कुछ नया और गहरा जोड़ा भी गया है। यह ग्रंथ अपने-आपमें नव्य एवं स्वतंत्र है।

मुझे विश्वास है, प्रस्तुत ग्रंथ अपनी मौलिकता, संस्कृतिनिष्ठता एवं अधुनातनता के कारण विद्वानों, प्राध्यापकों, शोधकर्ताओं एवं छात्रों सभी को उपयोगी प्रतीत होगा।

पाण्डुलिपि की प्रस्तुति में प्रो० अरुणकुमार (ब्राह्मी विद्यापीठ, लाडनूँ—राजस्थान) ने बड़ी सहायता की, जिसके लिए उन्हें आशीर्वाद देता हूँ। विधा नलिन को अनुक्रमणिका में सहयोग के लिए धन्यवाद।

४ जुलाई, १९८७ —**रामप्रसाद मिश्र**

अनुक्रम

१

तुलसी : कुछ नए बिन्दु

विश्व के सर्वाधिक लोकप्रिय महाकवि तुलसीदास (१५३२-१६२३) के बारह प्रमाणिक ग्रंथों[१] (रामचरितमानस, विनयपत्रिका, कवितावली, गीतावली, दोहावली, पार्वती-मंगल, जानकी-मंगल, बरवै-रामायण, श्रीकृष्णगीतावली, रामललानहछू, वैराग्य-संदीपिनी और रामाज्ञा-प्रश्न) से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे अवधी, ब्रज एवं संस्कृत भाषा-विभाषा-सृजन का अतुलनीय सामर्थ्य रखते थे, भोजपुरी (विनयपत्रिका का एक महान् पद "राम कहत चलु राम कहत चलु राम कहत चलु भाई रे") से भी भलीभाँति परिचित थे, अरबी-फ़ारसी के शब्दों का खुलकर प्रयोग करते थे अर्थात् राष्ट्रभाषा के तत्कालीन विशद् एवं स्फीत साहित्यिक स्वरूप के पूर्ण प्रतिनिधि थे—ऐसे प्रतिनिधि जिनकी समता पूर्ववर्तियों और परवर्तियों में कोई नहीं कर सकता। डॉ० भोलानाथ तिवारी के अनुसार, उन्होंने लगभग सोलह हज़ार शब्दों का प्रयोग किया है जो विश्व के शीर्षस्थ कवियों में अप्रतिम है। पाश्चात्य कविता के एक सीमान्त शेक्सपीअर ने लगभग तेरह हज़ार शब्दों का प्रयोग किया है। छंद-प्रयोग (चौपाई, दोहा, सोरठा, हरिगीतिका, तोमर, नाराच, कवित्त, सवैया, छप्पय, बरवै, सोहर, पद इत्यादि) में भी उनकी गंभीर सफलता अतीव महत्त्वपूर्ण है। केवल 'रामचरितमानस में अलंकार-योजना'[२] पर डी० लिट्० के स्तर का कार्य हो चुका है। जहाँ तक सर्वरसनिष्पति[३] का संबंध है, रामचरितमानस की समता केवल महाभारत, इलिअड, ओडिसी और शाहनामा से ही की जा सकती है।[४] तुलसी की कवितावली भी सर्वरस-

---

१. तुलसी-ग्रन्थावली (संपादक रामचन्द्र शुक्ल, ब्रजरत्नदास, भगवानदीन)।

२. शोधकर्ता डॉ० वचनदेव कुमार।

३. द्रष्टव्य है मेरे 'विश्वकवि तुलसी और उनके काव्य' (१९७३) अथवा 'विश्वकवि तुलसी और उनके प्रमुख काव्य' (१९८६) का 'रामचरितमानस में सर्वरसनिष्पत्ति' निबंध।

४. द्रष्टव्य है मेरा 'विश्व के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य' (१९८६)।

निष्पत्ति की दृष्टि से समग्रतः सफल कलाकृति है।[1] भक्ति-साहित्य में रामचरित-मानस की सर्वश्रेष्ठता गांधी[2] जैसे नेता और एट्किन्स[3] जैसे विद्वान् स्वीकार कर चुके हैं।

महानतम विश्वकवियों में एक :

तुलसी विश्व-साहित्य के बालमीकि, व्यास, कालिदास या होमर, दांते, शेक्स्पीअर या फ़िरदौसी के साथ-साथ एक स्रष्टा-द्रष्टा महाकवि हैं—एक महानतम विश्वकवि हैं जिनका अन्तर्बाह्य पवित्रता, त्याग, वीरता, मर्यादा इत्यादि मानव-मूल्यों का प्रभावी प्रतिपादन सदैव प्रेरक रहेगा, जिनका भक्ति-दर्शन युग के सर्वाधिक अनुकूल सिद्ध हुआ है। उनका महाकाव्य रामचरितमानस बाइबिल के साथ-साथ संसार का सर्वाधिक लोकप्रिय ग्रंथ है, जिसके मौलिक रूप का पाठ भारत, नेपाल,मॉरीशस, गुयाना, फिजी, सूरीनाम इत्यादि देशों तक प्रसरित है तथा जिसके संस्कृत, मैथिली, मलयालम्, नेपाली, अंग्रेजी (गद्य में भी, पद्य में भी), फ्रेंच, रूसी, फ़ारसी इत्यादि अनुवाद भी विद्यमान हैं। यह ग्रंथ खरीदकर पढ़ा जाता है, फोकट में नहीं मिलता। विनयपत्रिका साधकों और सिद्धों, योगियों और यतियों के लिए रचा गया गहनतम भक्तिप्रपत्तिकाव्य है। गांधी ने अपनी पत्नी कस्तूर बाई को गुजराती लिपि में मानस पढ़ते देखकर हिन्दी सीखी थी, निराला ने अपनी पत्नी मनोहरा देवी के मानस पाठ से प्रेरित होकर। कालांतर में निराला ने 'तुलसीदास' शीर्षक अमर काव्य रचा। स्वामी मुक्तानन्द परमहंस को विनय-पत्रिका बहुत प्रिय थी, हजारीप्रसाद द्विवेदी जीवन-संध्या में इसका शयनपूर्व पारायण किया करते थे। काशीयात्रा-संदर्भों में समर्थ गुरु रामदास एवं संगीत-सम्राट् त्यागराज तक तुलसी से प्रभावित हुए थे। कवितावली काव्यरसिकों और कला-प्रेमियों के लिए रचा गया मनोहारी मुक्तककाव्य है। गीतावली राग-रागिनियों में निबद्ध सफल गीतिकाव्य है। दोहावली एक उत्कृष्ट भक्तिनीतिकाव्य है। पार्वतीमंगल और जानकीमंगल अच्छे खंडकाव्य हैं। रामललानहछू छोटा-सा लोककाव्य है। वैराग्य-संदीपिनी निर्वेदकाव्य है, तो रामाज्ञा-प्रश्न शकुनकाव्य। नन्हीं-सी बरवै-रामायण तक एक उल्लेख्य अलंकृतकाव्य है! काव्य के इतने अधिक आयामों का सफल स्पर्श मानव-जाति के इतिहास में किसी अन्य कवि ने नहीं किया।

---

१. द्रष्टव्य है मेरे 'विश्वकवि तुलसी और उनके काव्य' अथवा 'विश्वकवि और उनके प्रमुख काव्य' का 'कवितावली' निबंध।

२. सत्य के प्रयोग (आत्मकथा)।

३. 'द रामायना ऑफ़ तुलसीदास' (अनुवाद) की भूमिका।

तुलसी अविवाहित थे :

अब समय आ गया है कि प्रायः सभी उत्तरदायी विद्वानों द्वारा अप्रामाणिक एवं अप्रात्ययिक घोषित किए गए गोसाईंचरित एवं तुलसीचरित इत्यादि से मुक्त होकर केवल अन्तर्साक्ष्य के आधार पर तुलसी का जीवनवृत्त सुनिश्चित किया जाए। मंगनकुल में जन्म, माता-पिता द्वारा त्याग, भिक्षाटन इत्यादि तथ्य महाकवि ने स्वयं स्पष्ट किए हैं। यदि तुलसी का विवाह हुआ होता, और वे अतिशय पत्नीप्रेमी रहे होते, तो उन्होंने दास्यभक्तिपरक स्वदोषवर्णन में इसका बारंबार उल्लेख किया होता, जैसी कि उनकी प्रवृत्ति थी। वे पत्नी की फटकार पर रामभक्त बने, ऐसा मानना एकदम गलत है क्योंकि उन्होंने स्वयं लिखा है कि अबोध शैशव में ही रामकथा सुनी और रामभक्ति का जीवन-दर्शन बाल्यकाल में ही स्थिर किया था :

> मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सो सूकरखेत।
> समुझी नहिं तसि बालपन, तब अति रहेउँ अचेत॥[1]
> सेइ साधु-गुरु, समुझि, सिखि, रामभगति थिरताइ।
> लरिकाईं को पैरिबो, तुलसी बिसरि न जाइ॥[2]

अपने समग्र साहित्य में एक नहीं अपितु अनेक अनुल्लेख तथा अपने साहित्य में दो बार शैशव से ही रामसंपृक्तता के उल्लेख से तो तुलसी अविवाहित सिद्ध होते ही हैं, लोलार्क मठ के महंत (जिसके परिणामस्वरूप उन्हें गोस्वामी या गोसाईं कहा गया) बनने से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है क्योंकि महंत प्रायः अविवाहित व्यक्ति ही बनाए जाते हैं। अतएव, एक विरक्त साधु पर विवाह की कल्पना थोपना उचित नहीं है। वे आरंभ से ही विरक्त थे, जैसाकि उनकी आरम्भिक कृति वैराग्य-संदीपिनी से भी स्पष्ट होता है। सूर से भी संबद्ध विल्वमंगल-कथा के सदृश, तुलसी से संबद्ध रत्नावली-कथा परवर्ती कल्पना पर आधृत एवं निराधार है। "ब्याह न बरेखी, जाति-पाँति न चहत हौं"[3] जैसे कतिपय अंतर्साक्ष्य इसका खंडन करते हैं। इन पाँच ठोस आधारों की उपेक्षा करके परवर्ती, अप्रामाणिक एवं अप्रात्ययिक विवाह-कल्पना का अनुमोदन न औचित्य की दृष्टि से वरेण्य है, न शोध की, न तर्क की।

तुलसी का नारी-संवेदन :

तुलसी पर नारी-निन्दा का आरोप लगाया जाता है, जिसका आधार कुछेक

१. रामचरितमानस १/३०क
२. दोहावली १४०
३. विनयपत्रिका ७६/१४

साधारण अर्द्धालियाँ हैं।[1] कुछ लोग इस असाधारण अर्द्धाली को भूल जाते हैं जिसमें सहस्राब्दियों से दलित नारीजाति पर अपार संवेदन व्यक्त किया गया है और जो महान् समाजवादी नेता डॉ० राममनोहर लोहिया को बहुत प्रिय थी :

कत विधि सृजीं नारि जग माहीं।
पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं॥[2]

यह ठीक है कि कबीर, जायसी इत्यादि के सदृश ही तुलसी नारी-दर्शन में युगबद्ध थे, तथापि वे नरनारीप्रेम के उच्चतम रूप से परिचित तो थे ही, नारी-श्रद्धा से भी अनभिज्ञ न थे :

जल को गए लक्खन, हैं लरिका,
परिखौ पिय ! छाँह घरीक ह्वै ठाढ़े।
पोछि पसेउ, बयारि करौं,
अरु पाँय पखारिहौं भूभुरि डाढ़े॥
तुलसी रघुबीर प्रिया स्रम जानिकै,
बैठि बिलंब लौं कंटक काढ़े।
जानकी नाह को नेह लख्यो,
पुलको तनु, बारि बिलोचन बाढ़े॥[3]

तुलसी ने रामचरितमानस में सीता-वनवास का प्रकरण नहीं रखा क्योंकि वे वाल्मीकि-रामायण के उत्तरकांड की प्रक्षिप्तता[4] से अभिज्ञ थे, सीता के प्रति संवेदनशील थे।

तुलसी का मानवतावाद :

केवलमात्र दो अर्द्धालियों ("ढोल गँवार सूद्र पसु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी॥"[5] तथा "पूजिअ बिप्र सील गुन हीना। सूद्र न गुन गन ग्यान प्रबीना॥"[6] के आधार पर तुलसी को शूद्रविरोधी कहनेवाले महानुभाव यह भूल जाते हैं कि उन्होंने जितनी ब्राह्मणनिन्दा की है उतनी किसी अन्य की नहीं। तुलसी पर ब्राह्मणवाद का आरोप लगानेवाले राजनीति से प्रेरित होकर सत्य की हत्या

---

१. रामचरितमानस ५/५८/६, ३/५क, ३/३४/३
२, रामचरितमानस १/१०१/५
३. कवितावली १/१२
४. द्रष्टव्य है मेरे 'विश्व के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य' ग्रंथ का 'रामायण' शीर्षक निबन्ध।
५. रामचरितमानस ५/५८/६
६. रामचरितमानस ३/३३/२

करते हैं। यह सत्य है कि राष्ट्र की दयनीय दशा से क्षुब्ध होने के कारण तुलसी यत्र-तत्र आक्रोशग्रस्त हो गए हैं किन्तु इससे उनका विशद् मानवतावाद आच्छन्न नहीं हो सका :

तुलसी भगत सुपच भलो, भजै रैनि-दिन राम।
ऊँचो कुल केहि काम को, जहाँ न हरि को नाम।।
अति ऊँचे भूधरनि पर भुजगन के अस्थान।
तुलसी अति नीचे सुखद ऊख, अन्न अरु पान।।[1]

वस्तुतः तुलसी का उद्देश्य प्रत्येक वर्ण का सुधार था। उनकी शोषित-प्रपीड़ित मानवता के प्रति सहानुभूति रामचरितमानस, कवितावली, वैराग्य-संदीपिनी इत्यादि में अभूतपूर्व रूप में व्यक्त हुई है। निस्संदेह उनका समय जातिप्रथा की कट्टरता का समय था जिसका कुछ प्रभाव उन पर भी पड़ा, जो न पड़ता तो श्रेष्ठतर होता। किन्तु इसी के आधार पर उनकी निन्दा उचित नहीं। ब्राह्मण-प्रशंसा मेगस्थनीज़, फ़ाह्यान, ह्वेन्त्सांग, अमीर ख़ुसरो, मुल्ला दाऊद, केशव, प्रसाद इत्यादि ने भी की है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि ये सब ब्राह्मण-वादी थे! यदि कबीर और प्रेमचन्द स्पष्टतः ब्राह्मणविरोधी होने से अमानवतावादी नहीं हो जाते, तो तुलसी कुछ पंक्तियों के शूद्रालोचन के कारण कैसे हो जाएँगे? स्वर्गीया प्रधान मंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने राजनीति-प्रेरित आलोचकों का प्रत्याख्यान करते हुए कहा था कि तुलसीदास मूल मानव-एकता के विरोधी न थे। श्री जगजीवन राम तुलसी-साहित्य के अध्येता थे। उनका विचार भी कुछ ऐसा ही था। यदि तुलसी शूद्रविरोधी होते तो डोम जाति के सर्वपूज्य संत नाभादास उनके जीवन काल में ही उन्हें युग-वाल्मीकि कैसे कहते? इस संदर्भ में ध्यातव्य है कि रामचरितमानस के एक अत्यंत आरंभिक और महत्त्वपूर्ण संस्करण में कोदोराम ने "ढोल गँवार छुद्र पसु नारी" पाठ दिया था। तुलसी ने निषाद, कोल, किरात, भील, खस, शबर, श्वपच, वानर इत्यादि जातियों का संवेदनशील चित्रण किया है। उन-जैसे अद्वयद्रष्टा महापुरुष पर ब्राह्मणवाद या शूद्रविरोधवाद का आरोप लगाना निराधार भी है, ध्वंसात्मक भी :

सियाराममय सब जग जानी।
करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी।।[2]

---

१. वैराग्य-संदीपिनी ३८-३९
२. रामचरितमानस १/७घ/२

२

विश्वकवि तुलसीदास

सर जॉर्ज ग्रीअर्सन एवं आचार्य विनोबा भावे के शब्दों में बुद्ध के पश्चात् उत्तर-भारत के महानतम लोकनायक एवं लोकसेवक, मध्यकालीन भारत की आत्मा, भारत की चिरंतन धर्म-परम्परा के शंकराचार्य-सदृश अन्यतम रक्षक, हिन्दी-भाषा के प्राण, हिन्दी-साहित्य के सीमान्त प्रातःस्मरणीय गोस्वामी तुलसीदास का तलस्पर्शी एवं व्यापक भक्ति-संदेश समग्र विश्व के लिए अत्यन्त उपयोगी प्रमाणित हो सकता है। रामायण एवं महाभारत के पश्चात् भारतीय वाङ्मय का महानतम काव्य रामचरितमानस भक्ति-मार्ग का सर्वोत्तम ग्रन्थ है, इस तथ्य को गांधी (आत्मकथा में) से लेकर एट्किन्स (मानस के अमूल्य काव्यानुवाद की प्रस्तावना में) तक विविधक्षेत्रीय महानुभाव स्वीकार कर चुके हैं।

तुलसीदास के महान् व्यक्तित्व एवं कृतित्व ने उनके युग से लेकर अब तक शत-शत कवि-कोविदों को आकृष्ट किया है तथा उन पर रचे गए ग्रन्थ एक पुस्तकालय का रूप ग्रहण कर सकते हैं। बाबा वेणीमाधवदास, बाबा रघुवर दास, भक्त-प्रवर नाभादास, मराठी के मयूर कवि, निराला इत्यादि अनेकानेक कवियों ने उन पर विविध भाँति का जो काव्य रचा है, वह प्रबन्ध का विषय है। तुलसी पर शत-शत कवियों ने अनवरत रूप से जो संस्तुति-गान गाए हैं उनका संकलन एक बृहत् ग्रन्थ का रूप ग्रहण कर लेगा। 'तुलसीदास पर रचित काव्य-रचना' एक उच्चकोटि के स्वतन्त्र ग्रन्थ अथवा शोध-प्रबन्ध का विषय है। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर अब तक विदेशी विद्वानों ने तुलसी पर जो कार्य किया है वह सर्वथा उल्लेखनीय है। तासी, ग्रॉउज़ एवं एट्किन्स ने मानस के गद्य एवं पद्य अनुवाद किए हैं, तासी ने फ्रेंच एवं ग्रॉउज़ तथा एट्किन्स ने अंग्रेजी में। रूस के विश्वविख्यात भाषाविद् स्वर्गीय वारान्निकोव ने मानस का आदर्श पद्यानुवाद किया था। वारान्निकोव एवं एट्किन्स ने लगभग दस-दस वर्ष के अनवरत एवं संस्तुत्य प्रयत्नों के पश्चात् मानस के जो मूलवृत्तियुक्त काव्यानुवाद किए हैं वे संसार के अनुवाद-साहित्य में अत्यधिक महत्त्व रखते हैं। कार्पेंटर, टेसीटरी रॉवलिसन, ग्रीअर्सन प्रभृति पाश्चात्य पण्डितों ने तुलसी पर

समीक्षात्मक रचनाएँ की हैं। परम्परा अभी गतिशील है तथा रहेगी। विनय-पत्रिका का अंग्रेजी में अनुवाद हो चुका है। कुछ वर्ष पूर्व कवितावली का अंग्रेज़ी अनुवाद प्रकाशित हुआ था। विश्व की प्रमुख भाषाओं में मानस इत्यादि के अनुवाद की दिशा में संयुक्त राष्ट्र शिक्षा-विज्ञान-संस्कृति संगठन रुचि ले रहा है। 'तुलसीदास पर पाश्चात्य विद्वानों के कार्य' जैसा कोई ग्रंथ रचा जाना चाहिए, जिससे इस प्रथम श्रेणी के महाकवि का विश्वकवित्व विशेष स्पष्ट हो सके।

नेपाली, मैथिली, मलयालम प्रभृति, स्वराष्ट्र परिवार की भाषाओं में मानस के अनुवाद किए जा चुके हैं। मुंशी द्वारकाप्रसाद ने उसका फारसी अनुवाद किया था। 'रामचरितमानस के विभिन्न अनुवाद' शोध का विषय हैं। मिश्रबन्धु, रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दरदास, व्योहार राजेन्द्र सिंह, बलदेव प्रसाद मिश्र, माताप्रसाद गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, रामदत्त भारद्वाज, रामरतन भटनागर, राजपति दीक्षित, उदयभानु सिंह इत्यादि-इत्यादि अनेकानेक विद्वानों ने तुलसी के व्यक्तित्व, कृतित्व एवं दर्शन प्रभृति पक्षों पर अनेकानेक ग्रन्थों की रचना की है। 'तुलसीदास पर रचित विविध विवेचनात्मक ग्रंथ' एक गम्भीर ग्रंथ बन सकता है। तुलसीदास के प्रमुख ग्रंथों, विशेषत: मानस एवं विनय-पत्रिका पर अनेकानेक उत्कृष्ट टीकाएँ रची जा चुकी हैं। 'मानस पीयूष' संसार के टीका-साहित्य की महान् उपलब्धि है। 'तुलसीदास के प्रमुख ग्रन्थों पर रचित टीकाएँ' उच्चस्तरीय प्रबन्ध का विषय है। तुलसी-साहित्य पर कोश-रचना भी हुई है। संसार-साहित्य में किसी एक कवि तथा उसकी कृतियों पर इतना और ऐसा श्रद्धामूलक कार्य नहीं किया गया जितना और जैसा तुलसीदास और उनकी कृतियों पर किया जा चुका है और अभी तो बहुत-सा कार्य शेष पड़ा है। चिरंतन प्रतिभा पर अंतिम शब्द कभी नहीं कहा जा सकता।

तुलसीदास तथा उनके अमर महाकाव्य रामचरितमानस पर जनता की अपार श्रद्धा एक स्वयंसिद्ध तथ्य है। अधिकांश विद्वानों द्वारा मान्य उनके जन्म-स्थान राजापुर (जिला बाँदा, उत्तर प्रदेश) में उनका भव्य स्मारक बनाया गया है। पवित्र अयोध्या नगरी के जिस संस्थल पर उन्होंने भौमवार, रामनवमी, सम्वत् १६३१ वि० को रामचरितमानस की रचना का श्रीगणेश किया था, वहाँ भी उनकी स्मृति सुरक्षित की जा चुकी है। महान् तीर्थनगरी काशी, जहाँ उन्होंने शनिवार, श्रावण कृष्ण ३, सं० १६८० वि० को शरीर त्याग किया था, उनके अनेक स्मृति-प्रतीकों से सम्पन्न हो चुकी है। असी घाट पर तुलसी-मन्दिर जैसा भवन एक तीर्थ बन चुका है। मानस मन्दिर की भव्यता विश्व-विश्रुत होती जा रही है। उनके द्वारा संस्थापित संकटमोचन हनुमान् का मन्दिर उनके समय से ही तीर्थ बना चला आ रहा है।

तुलसीदास ने अनेक-समस्या-बहुल युग के लिए जिस पावन भक्तिमार्ग का

सबल प्रतिपादन किया है, वह अत्यधिक उपयुक्त एवं तर्क-संगत है। तुलसी की भक्ति-पद्धति समन्वित भक्ति-पद्धति है; उसमें विष्णु, शिव, शक्ति, ब्रह्मादि देवों—सबको स्थान प्राप्त है। वह भारत के नेत्रों राम एवं कृष्ण में एक मूल आस्था रखती है। उसने चिरन्तन मानवादर्शों के अतुलनीय प्रतीक राम के नाना रूपों की मनोहारिणी झाँकियाँ दिखाई हैं। तुलसीदास महान् आशावादी थे, वे मानव-शरीर को सुर-दुर्लभ समझते थे, वे भयावह पतन के युगों में पराशक्ति के अवतरण में आस्था रखते थे। भारतीय संस्कृति के हेतु अत्यधिक भयानक युगों को उन्होंने श्रवण एवं दृष्टि के माध्यमों से गम्भीरतापूर्वक सुना-देखा था। फिर भी उनमें कहीं भी निराशा एवं कुण्ठा नहीं दीखती। उन्हें भारतीय संस्कृति की चिरंतनता पर अटल विश्वास था। उनमें हीनता-ग्रन्थि एवं पराभवमूलक सन्धि-चेष्टा का कोई भी रूप कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता। सदाचार से शरीर, सत्कर्म से मन और सद्भक्ति से आत्मा के कल्याण का जो जीवन-दर्शन उन्होंने मानव-जाति के समक्ष प्रस्तुत किया था वह चिरंतन मूल्यों से सम्पन्न है, इस तथ्य को प्रमाण की आवश्यकता नहीं। उनके अनेक उद्गार आज अग्राह्य हो सकते हैं और काल-गति को देखते ऐसा स्वाभाविक भी है, किंतु उनका भक्ति-दर्शन सर्वथा ग्राह्य एवं प्रेरक ही रहेगा, इसमें संदेह नहीं है।

अवधी, व्रज एवं संस्कृत तीनों में काव्य-रचना करके तुलसीदास ने अपने अतुलनीय भाषा-अधिकार का परिचय दिया था। उनकी नाना-वृत्त-योजना भी अतीव सफल रही है। उनका भक्ति-प्रतिपादन सर्वश्रेष्ठ था और है। उनका प्रभाव अपार था और है। तुलसीदास का व्यक्तित्व द्विविध महिमा का प्रतीक बन गया है : धर्म-साधना एवं संस्कृति-रक्षा में व्यास एवं शंकराचार्य के समकक्ष काव्य-रचना में वाल्मीकि एवं कालिदास के समकक्ष। इधर ढाई हज़ार सालों में भारतीय संस्कृति और जीवन पर जिन तीन महापुरुषों का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा है वे हैं, बुद्ध, शंकराचार्य और तुलसीदास। उनमें भी बुद्ध का प्रभाव वेद-विरोध के कारण और शंकराचार्य का प्रभाव अतिशय गम्भीर दार्शनिकता एवं संस्कृत-रचना के कारण उतना अधिक सार्वजनिक नहीं हो पाया जितना सर्वश्रद्धासंपन्न एवं जनभाषा-कवि तुलसीदास का। भारत की भक्ति-साधना आज समूचे पश्चिम को आकृष्ट कर रही है। यदि हम सुपात्र बनकर राम एवं कृष्ण के चरित्र एवं चरित्र का व्यापक प्रचार करें तो कल की सुसभ्य एवं उन्नत मानवता इन चिरंतन दिव्यादर्शों से प्रेरणा प्राप्त कर कृतार्थ हो सकती है।

तुलसीदास हिन्दी-साहित्य के अतुलनीय एवं सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। रस, अलंकार, छन्द, विभाषाओं के प्रयोग, सन्देश की व्यापकता, धर्म की सेवा, संस्कृति की व्याख्या, प्रभाव प्रभृति बिन्दुओं की दृष्टि से हिन्दी का कोई कवि उनकी समता नहीं कर सकता। कबीर की प्रतिभा नकारात्मक थी, उन्हें अपने अति-

रिक्त शेष सब-कुछ अस्वीकार था। वेद, पुराण, कुरान, ब्राह्मण, मुल्ला, सब उन्हें तत्त्वरहित लगते थे। इस विराट् नकारात्मकता का एक कारण उनकी निरक्षरता थी, दूसरा जीवनगत कुण्ठा। यदि कबीर ने नासदीय-सूक्त पढ़ा होता तो वे वेद-निन्दा न करते, यदि कबीर ने पुरुष-सूक्त समझा होता तो वे वेद-निन्दा न करते, यदि कबीर ने भूमि-सूक्त का अनुशीलन किया होता तो वे वेद-निन्दा न करते। यदि कबीर ने कुरान पढ़ी होती तो वे उसकी भी निन्दा न करते। अनुभूति की तीव्रता एवं अभिव्यक्ति की प्रखरता में कुरान संसार-साहित्य के महानतम ग्रन्थों में एक है। यदि कबीर को मनोविज्ञान का ज्ञान होता तो वे कर्मकाण्ड तथा ब्राह्मण-मुल्ला इत्यादि की व्यर्थ-परिणाम आलोचना न करते। कबीर वस्तुतः नेता थे। कविता उनकी अभिव्यक्ति का माध्यम मात्र थी। सूर की प्रतिभा कबीर की प्रतिभा से अनुभूति की शालीनता एवं कलात्मकता दोनों दृष्टियों से उच्चतर है, किन्तु उसमें तुलसी की प्रतिभा-जैसी व्यापकता नहीं है। प्रसाद की प्रतिभा सुकुमार है जो तुलसी की सर्वांगपूर्ण पुष्ट प्रतिभा की समता किसी भी दृष्टि से नहीं कर सकती। अन्य किसी कवि की तुलसीदास से तुलना करना उसके साथ अन्याय मात्र करना है। हिन्दी-समीक्षा जब तक विश्व-वाङ्मय से नितान्त अपरिचित थी तब तक ऐसी तुलनाएँ की जा सकती थीं क्योंकि तब तक की सीमाएँ इनके अनुकूल थीं। अब इस प्रकार की तुलनाएँ प्रतिक्रिया एवं संकीर्णता की सूचना मात्र दे सकती हैं।

तुलसीदास भारतीय महाकवियों में वाल्मीकि, व्यास एवं कालिदास तथा पाश्चात्य महाकवियों में होमर, दान्ते एवं शेक्सपीअर के समकक्ष हैं। रामचरित मानस रामायण एवं महाभारत के साथ-साथ भारतीय-साहित्य का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है। संस्कृतेतर भारतीय साहित्य में मानस सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। प्रान्तीय भाषाओं में जो रामायणें हैं उनमें कोई मानस की समता नहीं कर सकती। कम्बन्, एड़ुत्तच्छन्, माधव कन्दलि, कृत्तिवास, बलरामदास इत्यादि की रामायणें तुलसी के मानस के सदृश विराट् समन्वय, उदात्त आदर्श एवं महान् प्रेरणा नहीं प्रदान कर सकीं, यद्यपि उनके अपने कलात्मक एवं सन्देशगत महत्त्व हैं। फिर तुलसी ने केवल मानस नहीं रचा; विनय-पत्रिका एक महान् आत्मपरक काव्य है, कविता-वली एक उत्कृष्ट मुक्तक कलाकृति है, गीतावली एक सुन्दर गीति-काव्य है और दोहावली भक्ति नीति की एक प्रेरक रचना है। जानकी-मंगल एवं पार्वती-मंगल सफल खण्डकाव्य हैं। रामललानहछू जैसी छोटी-सी लोकगीतवत् कृति भी जन-प्रेम प्राप्त करने में सक्षम रही है। अन्य रामायणकार इस दृष्टि से भी तुलसीदास की समता नहीं कर पाते।

भारत के आदिकवि वाल्मीकि तुलसी से तुलना के सर्वोपयुक्त पात्र हैं। नाभादास ने "बालमीकि तुलसी भए" कह कर शताब्दियों पूर्व ही ऐसी तुलना

का पथ प्रशस्त कर दिया था। कविता के पिता का ऋण भारत के प्रायः सभी कवियों पर है ; रामकाव्य की प्रेरणा का अक्षय स्रोत तो वे हैं ही। तुलसीदास ने स्थान-स्थान पर उनकी स्मृति ठीक ही की है। वाल्मीकि-रामायण विश्व-वाङ्मय के आधार-ग्रन्थों एवं सर्वोच्च महाकाव्यों में एक है। "समुद्रविव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवानिव" राम का महान् चरित एवं चरित्र सर्वप्रथम इसी महाकाव्य में प्राप्त होता है। वाल्मीकि के राम अधिकांशतः पुरुषोत्तम हैं, ब्रह्म अथवा अवतार नहीं। रामायण में राम के महान् जीवन के नाना कार्यों एवं संघर्षों का ऐसा यथार्थप्रवण एवं व्यापक वर्णन किया गया है कि परवर्ती कवि उसके प्रति कृतज्ञ होने से मुक्त न हो सके। उत्तर-वैदिककाल के जीवन के विशद् चित्रण, उच्चादर्शमयी वीरता के प्रभावी वर्णन, प्रकृति के स्वाभाविक एवं विस्तृत चित्रण वाल्मीकि-रामायण को विश्व के महाकाव्यों में शीर्ष-स्थान पर प्रतिष्ठित कर देते हैं। इन दृष्टियों से तुलसीदास वाल्मीकि की समता नहीं कर सकते। वाल्मीकि ने पात्रों को जिस कलात्मक तटस्थता के साथ प्रस्तुत किया है, रावण के लिए जिस उदारता से 'महात्मा' विशेषण का प्रयोग किया है, उसकी दृष्टि से भी तुलसीदास पीछे हैं। किन्तु, उदात्त सांस्कृतिक समन्वय, चरित्र-निर्माण एवं कलात्मक विभूति में तुलसीदास वाल्मीकि से आगे निकल जाते हैं। यहाँ "पुत्रात् शिष्यात् पराजयम्" का प्रसंग है। कुल मिलाकर, मानस रामायण के स्तर का महाकाव्य है। वाल्मीकि यथार्थ का सम्मान अधिक करते हैं, तुलसीदास आदर्श का। वाल्मीकि का उद्देश्य वर्णन है, तुलसीदास का भक्ति-निरूपण। वाल्मीकि सृष्टि में सृष्टि करते हैं, तुलसीदास सृष्टि में दृष्टि भरते हैं। वाल्मीकि और तुलसीदास एक-दूसरे के पूरक हैं। यदि वाल्मीकि मध्यकाल में उत्पन्न हुए होते तो उनका नाम तुलसीदास होता; यदि तुलसीदास उत्तर-वैदिककाल में उत्पन्न हुए होते तो उनका नाम वाल्मीकि होता।

व्यास और तुलसीदास की तुलना शतशः उचित है। संस्कृतेतर भारतीय साहित्यों में यदि कोई व्यास हुआ है तो वह तुलसीदास ही हैं। एक कृतज्ञ एवं सुयोग्य वंशज एवं उत्तराधिकारी के रूप में तुलसीदास ने व्यास की उचित स्तुति की है। व्यास भारतीय वाङ्मय-शरीर के मेरुदण्ड हैं। व्यास प्रतिभा के मानदण्ड हैं। महाभारत भारतीय संस्कृति का विश्वकोश है। महाभारत महाकाव्यों में महाकाव्य है। उसके आयाम विश्व-वाङ्मय में अद्वितीय हैं। जीवन का कोई भी पक्ष महाभारत की परिधि में देखा जा सकता है। विश्व-वाङ्मय में दर्शन की सर्वोत्तम गीतिका, श्रीमद्भगवद्गीता, महाभारत का एक अंश है। रामचरित-मानस महाभारत की परम्परा की सशक्त कृति है। उसमें भी महाकाव्य एवं पुराण के तत्त्वों का उचित समन्वय है, यद्यपि परवर्ती कवि होने के कारण अन्त-कथा-संव्यूहन में तुलसीदास प्रबन्ध-तत्त्व का अधिक सफल निर्वाह करते दृष्टि-

गोचर होते हैं। मानस में भी गीताओं का विधान है। मानस में भी पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) का समुचित निरूपण है। मानस में भी पथ-चतुष्टय (ज्ञान, योग, कर्म, भक्ति) का विवेचन विद्यमान है, यद्यपि तुलसी भक्ति को सुस्पष्ट वरीयता प्रदान करते हैं, जिसका कारण उनका युग है। व्यास एवं तुलसीदास में व्यक्तित्व साम्य भी विद्यमान है। दोनों विराटवादी एवं समन्वयवादी हैं, दोनों जीवन के महानतम विश्लेषक हैं, दोनों नीति-वलित आदर्शों के प्रतिपादक हैं, दोनों भारतीय संस्कृति के महान् रक्षक एवं विवेचक हैं। भारतीय जन-जीवन पर राम, कृष्ण, व्यास, बुद्ध, शंकराचार्य और तुलसीदास का प्रभाव सर्वोपरि है। व्यास का क्षेत्र अधिक व्यापक है, तुलसी अपने क्षेत्र में अधिक गहरे हैं। व्यास यथार्थ का अधिक वर्णन करते हैं, तुलसी आदर्श का। व्यास का उद्देश्य केवल अभिव्यक्ति है, तुलसी का कलात्मक अभिव्यक्ति है। व्यास पिता हैं, तुलसी पुत्र, जिसे पिता के अनुभव स्वतः प्राप्त हैं। एक सुयोग्य पुत्र एवं शिष्य के सदृश तुलसी ने पितृ-ऋण एवं ऋषि-ऋण से मुक्ति की दिशाओं में सफलता प्राप्त की है।

कालिदास भारत के सर्वश्रेष्ठ कलाकार थे। अनुभूति की कोमलता एवं अभिव्यक्ति की प्रांजलता में विश्व का शायद ही कोई कवि उनकी समता कर सके। अतीव उत्कृष्ट उपमाओं एवं अतीव कलात्मक बिम्बों की दृष्टि से कालिदास विश्व के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। अपने समय तक की सारी काव्य-परम्पराओं के सशक्त संग्रहण के साथ-साथ अपनी मौलिक उद्भावनाओं में भी कालिदास अद्वितीय थे। वैदिक परम्परा में विक्रमोर्वशीयम्, रामायण-परम्परा में रघुवंशम्, महाभारत-परम्परा में अभिज्ञान शाकुन्तलम्, पुराण-परम्परा में कुमारसम्भवम् एवं मौलिक उद्भावनाओं में मेघदूतम्, मालविकाग्निमित्रम् एवं ऋतुसंहारम् उनकी उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। उनकी प्रकरण-वक्रता विख्यात है ही। 'वक्रोक्ति-जीवितम्' में कुन्तक ने उनकी प्रशंसा की है। कालिदास की कला एवं प्रकरण-वक्रता उनकी कृतियों को पूर्ण मौलिक रूप प्रदान करने का सामर्थ्य रखती है। तुलसीदास भी सर्वोच्च कोटि के कलाकार थे। कालिदास उपमा के सम्राट् हैं; तुलसीदास रूपक के सम्राट् हैं। केवल मानस और विनय-पत्रिका के रूपक तुलसीदास को विश्व-वाङ्मय में रूपक के सम्राट् का पद प्राप्त कराने के लिए पर्याप्त हैं। यदि अनुभूति की कोमलता एवं अभिव्यक्ति की प्रांजलता में कालिदास तुलसीदास से बहुत आगे हैं, तो जीवन की विराट् अभिव्यक्ति एवं लोकमंगल में तुलसीदास कालिदास से बहुत आगे हैं। "संचारिणी दीपशिखा" इत्यादि के महाकवि का उत्तराधिकारी पूर्वज-गौरव की समृद्धि करना जानता था—

सुन्दरता कहुँ सुन्दर करई।
छबि गृह दीपसिखा जनु बरई॥

कालिदास के सदृश तुलसीदास ने अपने समय तक की सारी काव्य-परम्पराओं का सशक्त संग्रहण भी किया है, मौलिक उद्‌भावनाएँ भी की हैं। प्रकरण-वक्रता में तुलसीदास कालिदासवत् सशक्त हैं। रामचरितमानस, कवितावली, गीतावली, जानकी-मंगल, बरवै-रामायण, वैराग्य-संदीपिनी, रामाज्ञा-प्रश्न में रामकाव्य, श्रीकृष्ण-गीतावली में कृष्ण-काव्य, पार्वती-मंगल में शिव-काव्य, दोहावली में नीतिकाव्य, रामललानहछू में लोक-काव्य तथा विनय-पत्रिका में प्रपत्ति-काव्य का प्रभावी सृजन करनेवाले तुलसीदास सभी परम्पराओं को आत्मसात् करने का सामर्थ्य रखते थे। उनका समग्र सृजन विराटवादी समन्वय-साधना एवं लोक-मंगल से पुलकित एवं गौरवान्वित है। इसीलिए उनकी समग्र कृतियाँ पूर्णतः मौलिक कृतियाँ हैं। कालिदास और तुलसीदास में अन्तर भी है। प्रचलित एवं सरलतर शब्दावली में कालिदास "कला कला के लिए" के कवि हैं, तुलसीदास "कला जीवन के लिए" के कवि हैं। तुलसीदास में उद्देश्य एवं कला का समानुपात प्राप्त होता है, कालिदास शतशः शुद्ध कलाकार मात्र हैं। कालिदास अधिक आकर्षक हैं, तुलसीदास अधिक गम्भीर। अनुभूतिगत सार्वभौमत्व की दृष्टि से कालिदास अधिक प्रभावी हैं। अनुभूतिगत एकरसत्व की दृष्टि से तुलसीदास अधिक प्रभावी हैं। कालिदास का मूलधर्म कविता है, तुलसीदास का मूलधर्म भक्ति हैं। कालिदास पहले भी कवि हैं, तदनन्तर भी कवि हैं। तुलसीदास पहले भक्त हैं, तदनन्तर कवि। कालिदास का कवि एकविध-व्यक्तित्व है। तुलसीदास का भक्त-लोकनायक एवं कवि द्विविध-व्यक्तित्व है। कालिदास शुद्ध कवि हैं, तुलसीदास प्रेरक कवि। कलारुचि कालिदास को प्रियतर-वरतर मानेगी, जीवन-रुचि तुलसीदास को। भारत इन दोनों विश्वकवियों पर गर्व कर सकता है।

पाश्चात्य महाकवियों में होमर, दान्ते एवं शेक्सपीअर का स्थान सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। होमर पाश्चात्य कविता के जनक हैं। होमर पश्चिम के वाल्मीकि हैं। होमर पश्चिम के आदिकवि ही नहीं, आदि-महामानव भी हैं, क्योंकि उनसे पूर्व का कोई पाश्चात्य व्यक्ति विश्व के लिए कोई विशेष उपयोगी महत्त्व नहीं रखता। होमर पश्चिम के आदि-परिचयदाता हैं। होमर-रहित पश्चिम की कल्पना असम्भव है। होमर और तुलसी में तुलना अथवा समता के बिन्दु अधिक नहीं हैं। इस दृष्टि से वाल्मीकि और होमर अथवा व्यास और होमर अधिकाधिक निकट हैं। होमर प्रचीनतम मानवता के कवि हैं, तुलसी मध्यकालीन मानवता के कवि हैं। होमर का धर्म बलि-धर्म है, तुलसी का धर्म भक्ति-धर्म है। होमर स्पष्टतः वहुदेववादी हैं, तुलसी स्पष्टतः एकेश्वरवादी हैं; यद्यपि इनके एकेश्वर-वाद का बहुदेववाद से कोई वैर नहीं। होमर का उद्देश्य वर्णन है, तुलसी का उद्देश्य भक्ति-प्रसार। होमर के समक्ष उदारता का कोई विशेष महत्त्व नहीं है, तुलसी के समक्ष उदारता सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। किन्तु होमर और तुलसी की

महानता की कतिपय दिशाएँ सर्वथा तुलनीय हैं। होमर समूची यूनानी-संस्कृति के प्रतिनिधि कवि हैं। तुलसी समूची भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि कवि हैं। शौर्य एवं पराक्रम के वर्णन में दोनों ही की रुचि है। प्राचीन युद्ध के वर्णन, कालों में अत्यधिक अन्तर होते हुए भी, दोनों के महाकाव्यों में अच्छे हुए हैं। होमर अपनी प्राचीनता के कारण आधार-कवि हैं; वाल्मीकि के सदृश। इस दृष्टि से उनको एक विशेष स्थान अनायास प्राप्त हो जाता है। तुलसी का स्थान अपने सृजन एवं निर्माण के कारण ही है। जीवन के व्यापकतर चित्रण में होमर तुलसी से आगे हैं। उनके चरित्रों में विविधता अधिक है। कलात्मक तटस्थता में वे वाल्मीकि की समता कर सकते हैं। होमर का वर्णन-सामर्थ्य संसार-साहित्य में अद्वितीय है। उनके वर्णन चिरंतन आकर्षण के निलय हैं। होमर जीवन से दूर कभी नहीं जाते। तुलसी की विशेषताएँ उनकी कलात्मक अभिव्यक्ति, परिष्कृत मानवता एवं उदात्त भक्ति में निहित है। इनमें होमर और उनकी तुलना का प्रश्न एक सीमा तक ही उठ सकता है। होमर मानवता का परिचय कराते हैं, तुलसी मानवता को पावन बनाते हैं।

दान्ते ईसाई मज़हब के प्रतिनिधि एवं सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। उनका लघु-शत-सर्गीय महाकव्थ "डिवाइन कॉमेडी" धर्मग्राह्यता एवं कल्पना-चमत्कार की दृष्टि से एक आश्चर्यजनक ग्रन्थ है। "डिवाइन कॉमेडी" मानव की महानतम उपलब्धियों में एक है। इसमें क्रमशः चौंतीस तथा तेंतीस-तेंतीस सर्गों में नरक, शुद्धिलोक एवं स्वर्ग का अतीव, सजीव, सचित्र एवं सरस वर्णन किया गया है। ऐसा लगता है मानो कवि इन तीनों की यात्रा कर चुका है। तुलसीदास ने कवितावली के सुन्दर-काण्ड में लंका-दहन का जैसा सजीव, सचित्र एवं सरस वर्णन किया है, रत्नाकर ने 'गंगावतरण' में गंगा के भूलोक पर उतरने का जैसा सजीव, सचित्र एवं सरस वर्णन किया है, निराला ने 'राम की शक्ति-पूजा' में राम के मनोभावों एवं क्रिया-कलाणों का जैसा सजीव, सचित्र एवं सरस वर्णन किया है, वैसा ही सजीव, सचित्र एव सरस वर्णन दान्ते ने 'डिवाइन कॉमेडी' के विशेषतः नरक-सम्बद्ध तथा सामान्यतः शुद्धिलोक-स्वर्ग-सम्बद्ध अनेकानेक स्थलों पर किया है। अंग्रेजी के महाकवि मिल्टन अपने 'पैराडाइज लॉस्ट' में दान्ते के ऋणी हैं, यद्यपि उनका शैली-शिल्प कहीं अधिक सम्पन्न है, जिसका कारण काल-विकास भी है। मिल्टन दान्ते के लघु-संस्करण हैं। इंग्लैण्ड का राष्ट्र-जीवन अभी महाकाव्योचित गरिमा एवं प्राचीनता के अनुरूप नहीं हो पाया। रामायण या महाभारत या इलियड या ओडिसी या शाहनामा या 'डिवाइन कॉमेडी' या राम-चरितमानस के स्तर का महाकाव्य केवल उसी राष्ट्र में रचा जा सकता है जिसमें सहस्राब्दियों की सभ्यता-संस्कृतिजन्य अनुभूति की विभूति प्राप्त हो। संयुक्त राज्य अथवा सोवियत संघ अथवा अन्य अनेक सम्पन्न-सशक्त पाश्चात्य देशों में

उच्चतमस्तरीय महाकाव्य प्राप्त न होने का यही कारण है। इससे मिल्टन की सफलता का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। उनका द्वादशसर्गीय महाकाव्य 'पैराडाइज लॉस्ट' रामायण, महाभारत, रामचरितमानस अथवा इलियड, ओडिसी, 'डिवाइन कॉमेडी, अथवा शाहनामा की तुलना में गुण-परिमाण की उभय दृष्टियों में साधारणस्तरीय लगेगा और ऐसा स्वाभाविक है, किन्तु उसे उसके पार्श्व-परिवेश को देखते, कुल मिलाकर साधारण ग्रन्थ नहीं माना जा सकता। दान्ते की स्थिति मिल्टन से भिन्न थी। वे इटली से सम्बद्ध थे। उन्हें राष्ट्रीय उत्तराधिकार में सहस्राब्दियों की अनुभूतियाँ प्राप्त थीं। होमर और वर्जिल से वर्णन-कौशल और कला, ईसाई मजहब से आस्था प्राप्त कर तथा इस सबको समन्वित कर उन्होंने विश्व को एक उच्चतमस्तरीय महाकाव्य प्रदान किया। तुलसीदास विराट् सभ्यता-संस्कृति-विभूति की प्राप्ति एवं अनेकानेक तत्त्वों के समन्वय-सामर्थ्य में दान्ते की समता करते हैं। दोनों महाकवि जनभाषा-सृजन की दृष्टि से समान हैं। दान्ते ने लैटिन जानते हुए इटैलियन में लिखा और उसे गौरव प्रदान किया। तुलसी ने संस्कृत जानते हुए 'भाषा' में लिखा और उसे गौरव प्रदान किया। दान्ते वर्णन-विविधता एवं कल्पना-शक्ति में तुलसी से आगे हैं। तुलसी कवित्व-कौशल एवं जीवन की पवित्रता में दान्ते से आगे हैं। दान्ते केवल ईसाई मजहब के कवि हैं। तुलसी समग्र मानवता के कवि हैं। दान्ते होमर, सिकन्दर, सीज़र प्रभृति ईसा के पूर्ववर्ती एवं मोहम्मद, अली प्रभृति ईसा के परवर्ती महापुरुषों को केवल ईसाई न होने के कारण नरक-पथ या नरक में डाल देते हैं। तुलसी भक्ति का पावन पथ निषाद, शबर इत्यादि से लेकर कोल, भील, खस, किरात, आभीर, यवन इत्यादि सबके लिए प्रशस्त कर देते हैं। दान्ते का मज़हब अन्धविश्वास पर आरूढ़ है। तुलसी का धर्म विशदानुभूति पर। दान्ते केवल कवि हैं। तुलसी कवि के साथ लोकनायक भी।

अंग्रेजी के सर्वश्रेष्ठ महाकवि एवं नाट्यकार विलियम शेक्सपीअर विश्व-साहित्य के सीमान्तों में एक हैं। अपने समय तक के प्रायःसमग्र यूरोपीय साहित्य को आत्मसात् करके तथा उसे अपनी महान् उद्भावना-शक्ति अथवा प्रकरण-वक्रता से संयुक्त करके शेक्सपीअर ने अंग्रेजी को जो विशद रचना-राशि प्रदान की उस पर इस साहित्य का गर्व सर्वथा उचित है। यूनान, रोम तथा इटली के अन्य भाग, फ्रांस, डेन्मार्क इत्यादि सब शेक्स्पीअर के विपुल वाङ्मय में समाहित हैं। इंग्लैंड का अपने समय तक का प्रायः समूचा इतिहास शेक्स्पीअर ने चित्रित कर डाला है। विविध मानवीय मनोभावों के चित्रण की दिशा में शेक्स्पीअर की समता का कलाकार मिलना कठिन है। शेक्स्पीअर का साहित्य मनोभावों का विश्वकोश है। विभाजन-पूर्व का भारत रूस-रहित यूरोप के बराबर था। अतः तुलसीदास की तत्त्वग्राह्यता शेक्स्पीअर के स्तर की है, इसमें संदेश नहीं। तुलसी भारत की

समग्र संस्कृति को आत्मसात् करने में सफल हुए हैं। विविध मानवीय मनोभावों के चित्रण में भी पर्याप्त कुशल हैं। किन्तु उनका क्षेत्र इसी दिशा में आबद्ध नहीं है। उनका मुख्य क्षेत्र अहंपरिष्कारिणी भक्ति के द्वारा जीवन को बाह्य-अभ्यन्तर पूत बनाना है। उनके राम पूर्ण-परिष्फुट मानव हैं, एकपक्षबद्ध व्यक्ति नहीं। सामान्य भाषा में शेक्सपीअर "कला कला के लिए" तथा तुलसीदास "कला जीवन के लिए" के प्रतीक हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि तुलसीदास कोरे उपदेशक हैं। उनकी कविता रस, अलंकार, छन्द की विविध दृष्टियों से अतीव सफल है। कतिपय विशिष्ट मनोभावों के सफल चित्रण में तुलसीदास शेक्सपीअर से तनिक भी पीछे नहीं हैं। उदाहरणार्थ भयानक रस की सफल निष्पत्ति को ले रहा हूँ। शेक्सपीअर भयानक रस के महान् चितेरे हैं। इस दिशा में वे प्रेतात्माओं के प्रवेश द्वारा अतीव जीवन्त प्रभाव की सृष्टि कर देते हैं। उनकी सर्वश्रेष्ठ कलाकृति 'हैम्लेट' इसका सर्वोत्तम निदर्शन है। तुलसीदास भी भयानक रस के महान् चितेरे हैं। उन्होंने कवितावली के लंकाकाण्ड में लंकादहन के अवसर पर हनुमान् के जिस भयानक रूप एवं क्रियाकलाप की सृष्टि की है, वह अतीव प्रभावी है। भयातिरेक में "मूँदे आँखि हीय में" का वर्णन स्वाभाविक अथवा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अत्यन्त उच्चकोटि का है। संसार के नाशवान होने पर शेक्सपीअर ने अपनी आत्मपरक कविताओं 'सॉनेट्स' में अच्छा प्रकाश डाला है। तुलसीदास ने अपनी आत्मपरक मुक्तक-कृति 'बिनय-पत्रिका' में इस दिशा में जो सृजन किया है वह निस्सन्देह अधिक गहन एवं विशद् है। प्रेम, घृणा, ईर्ष्या, द्वेष इत्यादि के चित्रण में दोनों महाकवि पर्याप्त सफल हैं। किन्तु मानस और कवितावली में राम-सीता-प्रेम की समता करनेवाले वर्णन शेक्सपीअर के वाङ्मय में नहीं प्राप्त होते। दूसरी ओर, तुलसीदास महत्त्वाकांक्षा, राजनैतिक षड्यन्त्र, कूटचक्र इत्यादि के चित्रण में शेक्सपीअर की समता नहीं कर सकते। राजनीति की दिशा में शेक्सपी-अर का यथार्थवाद तुलसीदास के आदर्शवाद से अधिक व्यापक है। संगीत-सम्पन्नता में दोनों महाकवि समान हैं।

'विश्वकवि' एक अतीव महान् विशेषण है। जो कवि अपने समय तक के समग्र सम्बद्ध सृजन-विस्तार को आत्मसात् करते हुए उसे नूतन गति अथवा दिशा प्रदान कर सकने के महत् सामर्थ्य से सम्पन्न होता है, जो कवि समग्र मानवता अथवा कम-से-कम उसके एक विशद भाग को भावाभिभूत करने के महत् सामर्थ्य से सम्पन्न होता है, जो कवि नाना मनोभावों से तलस्पर्शी परिचय रखने के महत् सामर्थ्य से सम्पन्न होता है, जो कवि अनायास रूप में भावाभिव्यक्ति के महत् समार्थ्य से सम्पन्न होता है, वही महतोमहीयान् स्रष्टा-द्रष्टा 'विश्वकवि' के विराट् विशेषण का अधिकारी हो सकता है। भारतीय वाङ्मय में वाल्मीकि, व्यास, कालिदास तथा पाश्चात्य वाङ्मय में होमर, दान्ते, शेक्सपीअर ऐसे ही

कवि हैं। तुलसीदास ऐसे ही कवि हैं।

तुलसीदास ने अपने समय तक की विराट् भारतीय संस्कृति को आत्मसात् कर लिया था। श्रवण-अध्ययन-मनन इत्यादि के द्वारा उन्होंने श्रुति-पुराण-शास्त्र इत्यादि का सार ग्रहण करने में सफलता प्राप्त की थी। रामायण, रघुवंशम्, अध्यात्म-रामायण, हनुमन्नाटक, प्रसन्नराघव, महाभारत इत्यादि का उन्होंने महान् अनुशीलन किया था, यह एक स्पष्ट तथ्य है। वे बौद्ध इत्यादि धर्मों, नाथ-पंथ, निर्गुणमार्गी सन्तकाव्य, सूफी काव्य इत्यादि से परिचित थे और इस परिचय के संकेत उनके काव्य में भी प्राप्त हो जाते हैं। वे वेदान्त के जागरूक अध्येता थे। अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद इत्यादि दर्शनों का उन्होंने अध्ययन किया था, यह तथ्य विनय-पत्रिका से स्पष्ट हो जाता है। अपनी महान् सार-ग्राहिणी प्रतिभा को उन्होंने अपनी महान् समन्वय-साधना से संपुष्ट किया, जिसके कारण वे चिर और युग के सशक्त सेतु बन गए। रस, अलंकार, भाषा, छन्द इत्यादि में उनकी असाधारण गति विश्व-वाङ्मय में अद्वितीय है। निस्सन्देह, वे वाल्मीकि, व्यास, कालिदास या होमर, दान्ते, शेक्सपीअर के स्तर के विश्वकवि हैं।

तुलसीदास के महान् सृजन ने भारतीय संस्कृति की रक्षा एवं उसके प्रचार-प्रसार में जो महान् योगदान दिया है, उसने उन्हें एक उच्चतम श्रेणी का लोक-नायक भी बना दिया है। जिस प्रकार कोटि-कोटि नर-नारी बुद्ध, ईसा, मोहम्मद इत्यादि महापुरुषों के व्यक्तित्व-कृतित्व से प्रेरणा प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार तुलसीदास के व्यक्तित्व-कृतित्व से भी। भारत, नेपाल, मॉरीशस, फिजी तथा अन्यान्य देशों में रहनेवाले करोड़ों व्यक्ति वस्तुतः 'तुलसीधर्म' के अनुयायी हैं, यद्यपि उन्होंने कोई धर्म नहीं चलाया था तथा इस प्रकार के कार्य में उनकी पावन विनम्रता ने अहंकार के दुर्गुण के दर्शन किये थे। सम्प्रति जिसे हिन्दूधर्म कहते हैं, इसके विकास एवं रक्षण की दिशाओं में व्यास एवं शंकराचार्य के साथ-साथ तुलसीदास का योगदान अतुलनीय है। मानवता और उसकी सुन्दरतम अभिव्यक्ति कविता तुलसीदास के प्रति सदैव कृतज्ञ रहेगी, इसमें सन्देह नहीं है।

३

तुलसीदास का व्यक्तित्व

तुलसीदास विश्वकवि हैं: मानवजाति की सर्वोच्च प्रतिभाओं में एक। ऐसी प्रतिभा कम-से-कम एक सहस्राब्दि के सभ्यता-संस्कृति के विकास के प्रतिफल के रूप में उद्भूत होती है। ऐसी प्रतिभा ज्ञान-विज्ञान एवं भाव-विभाव के अनेक तत्त्वों का समाहार होती है। इंग्लैंड में शेक्सपीअर ऐसी ही प्रतिभा थे। केल्ट, रोमन, ऐंग्ल, सैक्सन, जूट, स्कॉट, वेल्श, आइरिश प्रभृति अनेकानेक जातियों तथा उनकी विचार-भाव-धाराओं का समन्वय इंग्लिश राष्ट्र एवं इंग्लिश भाषा के रूप में प्रकट हुआ। इसीलिए प्राविधिक दृष्टि से देश को 'यूनाइटेड किंग्डम' कहते हैं। शेक्सपीअर इस विराट् समन्वय की सहज अभिव्यक्ति थे। उनकी अनंत प्रतिभा ने राष्ट्र के सारे तत्त्वों को आत्मसात् कर लिया था। तुलसीदास की अनंत प्रतिभा ने भारतीय संस्कृति की सारी विराटता को आत्मसात् कर लिया था। गुप्तकाल एवं उसके पश्चात् जो सांस्कृतिक गतिविधियाँ हुईं, जो विकास हुए, वे सब तुलसीदास के सृजन में खप गए हैं। पुराण धर्म, बौद्ध-धर्म के परवर्ती वज्रयान-सहजयान-प्रभावजन्य योगमार्ग, इस्लाम-प्रवेशजन्य निर्गुणमार्ग तथा वेदांत-इस्लाम-समन्वयजन्य सूफ़ीमार्ग के विराट् चतुष्पथ पर खड़े तुलसीदास ने राष्ट्र के लिए उस पथ को समझने-समझाने और उस पर चलने-चलाने के अतुलनीय सामर्थ्य का परिचय दिया जो स्वाभाविक था, सरल था, उपयोगी था। तुलसीदास महान् द्रष्टा थे; परिणामतः वे महान् स्रष्टा थे। तुलसी हिन्दी-साहित्य के आकाश हैं। सब कुछ उनके घेरे में है।

भारतीय साहित्य में तुलसीदास से पूर्व ऐसी तीन अन्य प्रतिभाएँ हो चुकी थीं: वाल्मीकि, व्यास, कालिदास। तुलसीदास ने इनसे प्रेरणा ली, इनका उत्तराधिकार ग्रहण किया। संसार-साहित्य का सर्वोच्च विकास आर्यजाति ने किया है: भारत में वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, तुलसीदास और यूरोप में होमर, वर्जिल, दांते, शेक्स्पीअर और ईरान में फ़िरदौसी, सादी, हाफ़िज़, रूमी इत्यादि इसके प्रमाण हैं। विश्व के सारे महानतम कवि किसी-न-किसी रूप में आर्यजाति-संबद्ध रहे हैं। यह भी संयोग ही है कि विश्व-साहित्य का सर्वोच्च विकास भारत और रूस-रहित भारताकार यूरोप में हुआ। आर्य-भाषाओं में,

आर्यमूलक तत्त्वों द्वारा। वाल्मीकि सहस्राब्दियों की वैदिक परम्परा से उद्भूत सभ्यता-संस्कृति के उद्गार थे; आर्यजाति के महानतम मानव राम, पुरुषोत्तम राम के चितेरे। व्यास सहस्राब्दियों की वैदिक परम्परा से उद्भूत सभ्यता-संस्कृति के विषमतम संक्रांतिकाल (महाभारत काल) के उद्गार थे; पूर्णपुरुष कृष्ण के चितेरे। इस संक्रांतिकाल का प्रतिक्रिया-काल बौद्धकाल था। इस तथा क्रमशः ईरानी, यूनानी, शक प्रभृति तत्त्वों के समन्वय से भारतीय सभ्यता-संस्कृति का जो रूप प्रकट हुआ वह कालिदास में व्यक्त दृष्टिगोचर होता है। कालिदास महाभारत-काल तथा उसके पश्चात् की सहस्राब्दि अथवा इससे भी अधिक काल के जीवन का उद्गार थे। कालिदास और तुलसीदास के मध्य कम-से-कम एक सहस्राब्दि का अंतर है। इस बीच परिवर्तन-चक्र अधिक एवं जटिलतर त्वरा से घूमा। तुलसीदास इस सहस्राब्दि के जीवन का उद्गार थे। अनुभूति-पक्ष में भी, अभिव्यक्ति-पक्ष में भी, विचार-पक्ष में भी, भाव-पक्ष में भी। मूल वैदिक-पथ का सम्मान करने, परवर्ती विकास को उसी के अंतर्गत ग्रहण करने, समन्वय की चिरंतन परम्परा को ग्रहण करने इत्यादि में वे वाल्मीकि, व्यास और कालिदास के सुयोग्य उत्तराधिकारी थे। तुलसीदास के पश्चात् उच्चतम विश्वस्तर का कोई कवि प्रकाश में नहीं आया। अभी समय भी प्रायः अर्द्धसहस्राब्दि का ही व्यतीत हुआ है। इस अर्द्धसहस्राब्दि में विश्व और भारत में परिवर्तन अधिक त्वरा से हुए हैं। सम्भव है, इस सब के उद्गार के रूप में कोई विश्वकवि प्रकट हो जाए और सहस्राब्दि-सीमा को तोड़ दे।

पश्चिम, तत्त्वतः पश्चिम की आत्मा यूरोप में भी ऐसी तीन प्रतिभाओं के दर्शन होते हैं : होमर, दाँते, शेक्स्पीअर के रूपों में। होमर मिस्र से क्रीट तथा क्रीट से यूनान आई तथा वहीं फली-फूली सभ्यता-संस्कृति के सशक्त उद्गार थे। होमर पश्चिम के आदि-परिचयदाता हैं। यूनान पश्चिम का जनक है। पश्चिम के जीवन के अधिकांश उदात्त एवं महान् तत्त्व यूनानमूलक हैं। होमर यूनान के मुख हैं। दांते यूनान के पतन से लेकर ईसाई मज़हब के अपने समय तक के विकास के उद्गार हैं। इस बीच महान् रोम का उदय और अस्त हो चुका था। पश्चिम में इस्लामी प्रभाव का उदय और अस्त हो चुका था। और दांते ने, अपने संकीर्ण दृष्टिकोण से ही सही, इन सब को खपा लेने के सामर्थ्य का प्रभावी परिचय दिया है। रोम-राष्ट्र के गौरव के चितेरे वर्जिल को भावगुरु बनाना दांते की समन्वय-भावना का सूचक है, भले ही वे प्रकृति से बहुत उदार न रहे हों। दांते का ईसाई-मज़हब-बंधन उन्हें होमर और शेक्स्पीअर के सार्वभौम स्तर से कुछ पीछे छोड़ देता है। होमर में मज़हबों की अहंता से पूर्व का सहज विश्व मुखरित हुआ है। शेक्स्पीअर में जीवन का समाहार मुखरित हुआ है; उनमें जो इंग्लैंड-सीमा है उसे, समय को देखते हुए, बंधन नहीं माना जा सकता।

ईरान या फ़ारस में फ़िरदौसी लगभग ऐसी ही प्रतिभा थे। उन्होंने प्राचीन एवं पौराणिक ईरान से लेकर महमूद ग़ज़नवी के काल तक का विराट् दर्शन करते हुए शाहनामा रचा किन्तु, जैसा नाम से ही स्पष्ट है, ग्रंथ संस्कृति के विकास से थोड़ा-सा हटकर शाहों और सरदारों के विकास में रम गया, जिसका कारण कवि के 'दरबारी' होने के बंधन हैं। दूसरे, प्राचीन ईरान और इस्लामी ईरान के विचार-भाव-तारतम्य का सम्यक् सांस्कृतिक निर्वाह संभव नहीं है। तुलसीदास ने इस सांस्कृतिक निर्वाह को ध्यान में रखते हुए मध्यकालीन राजनीति की स्थूलता से अपने-आपको मुक्त रखा है। वे मुक्त कवि थे; इसलिए, उनको इस दिशा में सफलता प्राप्त हो सकी है। फ़िरदौसी हृदय से ईरानी किन्तु मज़हब से मुसलमान थे। उनकी सीमाएँ स्पष्ट हैं। किन्तु शाहनामा की सम्पन्न विराटता विश्व-वाङ्मय की एक निधि है। संसार के मुसलमान कवियों में फ़िरदौसी अतुलनीय रूप से सर्वश्रेष्ठ हैं। उनको 'फ़ारस का होमर' ठीक ही कहा जाता है।

तुलसीदास के व्यक्तित्व की विराटता विस्मयकारी है। उनके निर्माण में वेद से वल्लभ तक अनेकानेक उपादानों का संगत समाहार उत्तरदायी रहा है। यह संगत समाहार ही तुलसी का समन्वयवाद है। तुलसी नकारात्मक प्रवृत्ति के व्यक्ति नहीं थे। वास्तव में उच्चतम स्तर की प्रतिभा नकारात्मक हो ही नहीं सकती। मध्यम और निम्न श्रेणियों की प्रतिभाएँ ही नकारात्मक हो सकती हैं। नकारात्मकता अल्प अथवा अपूर्ण ज्ञान अथवा कुंठा अथवा स्वार्थ में मूलबद्ध होती हैं। उसका रूपरंग क्रांतिकारी और भड़कीला होता है। किन्तु वह मानवता पर तलस्पर्शी अथवा व्यापक प्रभाव नहीं डाल पाती। नकारात्मकता मानवता का व्यापक विकास नहीं कर सकती। तुलसीदास इस गहन तथ्य से अभिज्ञ थे। उन्होंने शाश्वत वेद-प्रभाव को शिरसा-स्वीकार किया, उन्होंने परवर्ती पौराणिक प्रभाव अथवा अवतारवाद को सादर सम्मानित किया, उन्होंने शांकर-अद्वैत के तत्त्व को मूल्यवान समझा, उन्होंने रामानुज की भक्ति-प्रपत्ति को उदात्त माना, उन्होंने रामानंद के सार्वभौम भक्तिवाद को प्रतिपादन-योग्य समझा, उन्होंने वल्लभ की प्रेम-पुष्टि-भावना को भी समझा-परखा। भक्ति-प्रपत्ति एवं प्रेम-पुष्टि मूलतः एक हैं। किन्तु तुलसी में इस सर्वस्वीकृति को अपने एक रंग में रँगने की अद्भुत क्षमता थी : वह एक रंग है रामभक्ति !

तुलसी की प्रकृति रचनात्मक थी, ध्वंसात्मक नहीं। चिरकाल से भारतीय समाज-शरीर के मेरुदंड वेद का खंडन उन्हें अनुचित प्रतीत हुआ। समाज को सम्यक् रूप से धारण करने के लिए एक आधार आवश्यक होता है। भारतीय समाज का यह आधार वेद रहा है। परवर्ती धर्मविकास में महाभारत एवं तिरुक्कुरल के यथास्थान पंचमवेद कहे जाने से व्यवधान नहीं पड़े। मानवजाति के प्रथम ग्रन्थ ऋग्वेद तथा उससे प्रेरित अन्य वेद की महिमा अक्षुण्ण रही है। वेद का धर्म

एकव्यक्तिबद्ध अथवा एकग्रंथबद्ध नहीं है। उसमें अहंवाद या व्यक्तिवाद के लिए विशेष अवकाश नहीं है। वेद का धर्म सर्वस्वीकृतिमय अथवा समन्वयवादी विराट् धर्म है। निर्गुण-निराकार और सगुण-साकार, एकेश्वरवाद और बहुदेव-वाद, सूक्ष्मोपासना और मूर्तिपूजा, सबके लिए उसमें स्थान है। वेद का धर्म अन्य अनंत मानवानुभूतियों के शतशः अनुकूल है। वेद मानवजाति की महानतम उप-लब्धियों में एक है, सर्वप्रथम है। मानवजाति की अन्य महानतम उपलब्धियाँ बाइबिल, इलियड-ओडिसी और क़ुरान हैं। वेद की विभिन्न व्याख्याएँ हुई हैं। ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, निरुक्त इत्यादि इस तथ्य के प्राचीनतर निदर्शन हैं। मनु ने वेद को अखिलधर्ममूल ठीक ही कहा है। पुराण वेद के तत्त्व को अपने ढंग से प्रस्तुत करते हैं, रामायण-महाभारत अपने ढंग से, तुलसी अपने ढंग से। परवर्ती धर्मविकास वेदमूलक होने में गौरव का अनुभव करता आया है। वेद के स्थूल अध्येता इस तथ्य को नहीं समझ पाते। तुलसी ने वेद-महत्त्व को शिरसा स्वीकार किया क्योंकि उनमें अहंवाद या कुंठा या विकृति का लेश भी नहीं था। वे इस तथ्य से परिचित थे कि वेद तथा शास्त्र की निन्दा नकारात्मक है, ध्वंसात्मक है, व्यर्थ है। बुद्ध, महावीर, कबीर इत्यादि की वेदनिन्दा व्यर्थ सिद्ध हुई। बुद्ध और महावीर को जो सफलता प्राप्त हुई थी वह राजनीतिमूलक थी। अतएव, जब उपयुक्त राजनैतिक वातावरण न रहा तब उनका प्रभाव सीमित हो गया अथवा समन्वयवादी उदार भारतीय संस्कृति ने उन्हें अपने-आपमें खपा लिया। कबीर की वेदनिन्दा उनकी सर्वग्रासी नकारात्मकता का परिणाम थी जिसकी लपेट में क़ुरान भी आ गई है। कबीर एक ऐसे अनुत्तरदायी क्रांतिकारी थे जो ध्वंस का संदेश तो दे देते हैं किन्तु यह नहीं बता पाते कि इसका परिणाम क्या होगा, लाभ क्या होगा ? जनता ऐसे क्रांतिकारियों का आदर करती है, अनुकरण नहीं। आदर इसलिए कि ऐसे क्रांतिकारियों के अहंवाद से अनेक सामाजिक दोषों का निराकरण अथवा परिष्कार हो जाता है। मानवता एक विशद् एवं अप्रतिहत प्रवाह एवं विकास का प्रतिफलन है। मानक आदिम भी है, विकसित भी। सभ्यता कलेवर-परिवर्तन करती है, मानव-परिवर्तन नहीं। संस्कृति प्रवृत्ति-परि-ष्करण करती है, प्रवृत्ति-परिहार नहीं। इन चिरंतन तत्त्वों का पारखी ही व्यापक एवं शाश्वत कल्याण-पथ प्रशस्त कर सकता है। तुलसीदास ऐसे ही पारखी थे। इसलिए, उनके पथ पर कोटि-कोटि व्यक्ति चले और चल रहे हैं : हनुमान्-पूजा, रामलीला, कृष्णलीला इसके प्रमाण हैं। समर्थ गुरु रामदास, कविवर मोरो पंत, संगीत-सम्राट् त्यागराज इत्यादि पर प्रभाव इसके प्रमाण हैं। निस्संदेह उनका पथ ख्यातिलाभ, राजनीतिलाभ, अर्थलाभ का पथ न था, वह विशद् मानवपथ था, जिसमें फ़ालतू और खोखले पर भड़कीले और चमकीले नारों को कोई स्थान प्राप्त नहीं था।

महानतम स्तर की प्रतिभा सार-तत्त्वों को स्वीकार कर सकती है, किन्तु अपने ढंगों से, और इस प्रकार सारे तत्त्व अपने बन जाते हैं। इस प्रकार का विशद् स्वीकरण मौलिकता का सबसे गंभीर रूप है। तुलसीदास का व्यक्तित्व इस मौलिकता का निस्सीम निलय था। उन्हें राम स्वीकार हैं, किन्तु राम का सीता-त्याग या तो एकदम नहीं (जैसेकि मानस में) या परिवर्तित रूप में (जैसेकि गीतावली में)। उन्हें हिंसा एवं स्थूल कर्मकांड के विरोधी बुद्ध स्वीकार हैं (जैसेकि विनय-पत्रिका में) किन्तु विष्णु के अवतार के रूप में, वेदनिन्दक के रूप में नहीं (जैसेकि दोहावली में)। उन्हें शंकराचार्य स्वीकार हैं (जैसेकि विनय-पत्रिका के अध्यास-निरूपण अथवा विवर्त-वर्णनों में) किन्तु दास्यभक्ति के साथ। उन्हें रामानुज स्वीकार हैं (भक्ति-प्रपत्ति में सर्वत्र) किन्तु उनके आराध्य राम हैं और वे शूद्रादि को भक्ति का पूर्ण अधिकारी मानते हैं। उन्हें योग स्वीकार है (मानस के शिव महान् योगी हैं) किन्तु भक्ति के साथ (मानस के शिव महान-तर भक्त हैं); और भक्ति की उदात्त नम्रता से रहित अहंमूलक योग के वे तीव्र आलोचक हैं ("गोरख जगायो जोग भगति भगायो लोग"—कवितावली)। उन्हें निर्गुण-ब्रह्मवाद से वैर नहीं (उनके राम सर्वत्र निर्गुण-ब्रह्म भी हैं) किन्तु अहंकारजनक एवं अनुत्तरदायित्वपूर्ण "अहं ब्रह्मास्मि" रटनेवालों का वे तीव्र प्रत्याख्यान करते हैं (मानस एवं कवितावली के कलियुग-वर्णन में, दोहावली के युग-दर्शन में)। इतनी विराट् किन्तु वैयक्तिकता के स्पर्श से सशक्त एवं जनोपयोगी दृष्टि विश्व-वाङ्मय में कहीं नहीं प्राप्त होती। तुलसी के अध्ययन की नई दिशाएं जितनी ही गंभीर होंगी, उनके गौरव में उतनी ही वृद्धि होगी।

तुलसीदास के व्यक्तित्व में दर्शन और कला का अद्भुत समन्वय प्राप्त होता है। मानस और विनयपत्रिका इस कथन के प्रमाण हैं। उनमें दर्शन के बाह्यतः विरोधी प्रतीत होनेवाले तत्त्वों को अनुकूल-एकरूपता प्रदान करने की असाधारण क्षमता थी। अद्वैतवाद और दास्यभक्ति की जो अद्वितीय एकरूपता विनय-पत्रिका में प्राप्त होती है, वह इस कथन की प्रमाण है। वे पुरुषार्थ (धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष) में मिथ्या अंतर्विरोधों की सृष्टि नहीं करते। बुद्ध ऐसे अंतर्विरोधों के व्यूह में फँस गए थे। परिणामतः एक ओर तो उन्हें "अस्मिन् सति, इदम् भवति" का विज्ञानसम्मत उद्‌गार व्यक्त करना पड़ा अथवा 'पुद्‌गल नैरात्म्य' का प्रचार करना पड़ा और दूसरी ओर पुनर्जन्म को स्वीकार करना पड़ा। एक ओर "सर्वं अनित्यम्" एवं "सर्वं अनात्मम्" की घोषणा और दूसरी ओर पुनर्जन्मवाद तलस्पर्शी एवं व्यावहारिक कैसे हो सकते हैं? आत्मा-परमात्मा पर उपनिषद् से आगे बढ़कर कुछ कह सकना सम्भव न था। अतएव, बुद्ध ने इनके संदर्भों में नकारात्मक पथ ग्रहण किया क्योंकि वे अपनी प्रतिष्ठा एवं पूजा में मूलबद्ध ऐसा धर्म चलाना चाहते थे जिसमें वेद एवं ब्राह्मण का विरोध करना ही

था। किन्तु अपने धर्म को कोरे दर्शन से उच्चतर स्थान प्रदान करने के लिए उन्हें पुनर्जन्म की शरण लेनी पड़ी। वे कपिल और कणाद् की प्रखर बौद्धिक नास्तिकता से प्रभावित और प्रेरित तो थे किन्तु दार्शनिक मात्र के सम्मान से संतुष्ट नहीं। उन्हें धर्मप्रवर्तक की पूजा चाहिए थी। जो पुनर्जन्म-मुक्ति के वाहक के रूप में मिल भी गई। उनका आत्मा-परमात्मारहित धर्म उनके प्रभावी व्यक्तित्व, क्षत्रिय राजकुमार होने तथा इस कारण से बिम्बसार, उदयन, प्रसेनजित् इत्यादि क्षत्रिय राजाओं में उनके प्रति आकर्षण इत्यादि से बल प्राप्त कर चल तो पड़ा पर उसमें परमात्मा का स्थान स्वयं उन्हें ग्रहण करना पड़ा, क्योंकि धर्म परमात्मा अथवा पराशक्ति-पृथक् नहीं रह पाता। परिणामतः इस धर्म में अंधविश्वास एव दूषित रूढ़िवाद वैदिक धर्म से भी अधिक बढ़ गये और भारत में वह अपने पृथक् रूप को स्थिर न रख सका। वैदिक धर्म ने उसके उत्कृष्ट तत्त्वों को आत्मसात् कर लिया। अन्यत्र किसी महान् धर्म के अभाव में वह फलता-फूलता रहा। बुद्ध का 'दुःखम्' जनाकर्षण का एक माध्यम था : 'दुःखम्' पर प्रवचन के अनंतर वे राजगृह या कौशाम्बी या श्रावस्ती की ओर गतिशील हो जाते थे! तुलसीदास ज्ञान-योग-भक्ति-कर्म के गीता-जैसे समन्वित पथ का सम्मान करते हुए भी व्यवहारगत सरलता एवं युगानुरूपता के कारण भक्ति को वरीयता प्रदान करते हैं। ज्ञान-योग वैयक्तिक साधना-मार्ग बनें तो बन जाएँ सामाजिक साधना-मार्ग नहीं बन सकते। उनको सामाजिक साधना-मार्ग बनाने से पाखंड एवं अनाचार में वृद्धिमात्र हो सकती है। इस कथन के प्रमाण सहजयान से रजनीश तक में देखे जा सकते हैं। कर्म का प्रचार उस पतन एवं पराजय के काल में सफल न हो सकता था। भक्ति मध्यकाल की राष्ट्रीयता बन गई थी। उसे सर्वसुलभता की विभूति प्राप्त थी। उसमें अवतारवाद का आश्वासनमय आशावादी तत्त्व ऊभचूभ था। तुलसीदास ने भावनामयी भक्ति को युग का दर्शन ही नहीं बनाया, उसे चिरकालिक महत्त्व भी प्रदान किया। यह उनकी महती उपलब्धि थी।

तुलसीदास का व्यक्तित्व निर्लोभतामयी नम्रता का उत्कृष्ट उदाहरण था। भारतीय धर्मसाधना कभी एकव्यक्तिबद्ध अथवा एकग्रंथबद्ध नहीं रही। परिणामतः उसमें अहंवाद एवं अंधविश्वास कभी एक रूप में स्थायी नहीं हो सके। धर्मप्रवर्तन में अहंलोभ एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है अन्यथा आवश्यक-अनावश्यक रूपों में धर्मों की बाढ़ से मानवता के डूबने के इतने अधिक प्रसंग न उठते जितने उठे हैं, और इतिहास जिनकी साक्षी देता है। किसी नये धर्म से मानवता की कोई समस्या नहीं सुलझी, प्रत्युत् उसके कारण नये संकीर्ण धर्मवाद अथवा हिंस्र राष्ट्रवाद का ही उदय हुआ है। वैज्ञानिक समाजवाद ने धर्म को अफ़ीम इसी कारण से कहा है। किन्तु खेद है कि वह स्वयं मार्क्सधर्म बनकर रह गया है तथा लेनिन-

शव-पूजा में तो आदिम-फ़िराऊनवाद या पिरेमिडवाद का ही पुनर्जन्म हो चुका है ! तुलसी के समय तक धर्मपरिवर्तन की राजनीति बहुत उभर चुकी थी । जैन-धर्म के सीमिततर तथा इसके एवं बौद्धधर्म के हिन्दूधर्म में खप जाने के कारण धर्म-परिवर्तन-राजनीति को आघात लगा था किन्तु इस्लाम के आगमन एवं अन्यान्य व्यक्तिप्रवर्तित मज़हबों के परिचय ने इसे पुनरुज्जीवित कर दिया । इस्लाम (जो वस्तुत: एवं तत्त्वत: मोहम्मडनिज़्म है, जैसाकि प्रबुद्ध एवं जागरूक पश्चिम मानता ही है) का हिंस्र एवं घृणावादी इतिहास सदा भयानक ही रहा है । मोहम्मद एक महान् नेता थे, किन्तु उनकी निरक्षरता, उनके उचित-अनुचित सत्तर (या पैंसठ) युद्ध, उनके अनेक विवादास्पद विवाह इत्यादि अनेक सुल्तानों या बादशाहों तथा अन्य व्यक्तियों में नवधर्मप्रवर्तक बनने की योग्यता के आभास के कारण बन गये थे : योग्यता इत्यादि सब गुण गौण हो गये, केवल खड्ग महत्त्वपूर्ण बन बैठा ! अलाउद्दीन ने नवधर्मप्रवर्तन पर पर्याप्त विचार किया था और अकबर ने तो चला ही दिया था । कबीर, नानक इत्यादि तो धर्मप्रवर्तक या पंथप्रवर्तक माने ही जाते हैं । तुलसीदास की महानतर प्रतिभा नवधर्मप्रवर्तक के गौरव-लोभ से मुक्त रहकर चिरंतन अथवा सनातन भारतीय धमसाधना की सेवा में ही दत्त-चित्त रही । यह तथ्य उनकी लोभरहित नम्रता एवं प्रशांत निष्ठा से संपन्न व्यक्तित्व का परिचय देता है । तुलसीदास ने नवधर्मप्रवर्तकों की पंथ-कल्पना का तीव्र प्रत्याख्यान किया, जिससे सनातन भारतीय साधना और अधिक दुर्बल होने से बच गई । जब इस्लाम के नाम पर भारतीय धर्मसाधना पर अनवरत अत्याचार किए जा रहे थे, जब उसके विनाश के ध्येय की गर्जनाएं की जा रही थीं, तब सुधार या किसी अन्य आधार की आड़ लेकर नवधर्मप्रवर्तन सर्वथा आत्म-घाती ही सिद्ध हो सकता था । तुलसीदास ने इसका प्रत्याख्यान कर भारतीय धर्म एवं संस्कृति की महान् सेवा की । उनके सशक्त व्यक्तित्व ने इस प्रवृत्ति को समाप्तप्राय कर दिया । यही कारण है कि वे एक उच्चकोटि के धर्मरक्षक माने जाते हैं । हिन्दी-भाषा-भाषियों में 'बुद्धू', 'देवानांप्रिय', 'हज़रत', 'खलीफ़ा', 'पोपलीला', 'गुरु' इत्यादि शब्दों का परिहास-प्रयोग नवधर्मप्रवर्तन अथवा धर्म-परिवर्तन के मूल में निहित अहंमूलक पाखंड या स्वप्रतिष्ठापक बलप्रयोग की कथाएँ कहता है ।

युग एवं मानव का अटूट संबंध होता है । तुलसीदास का महान् व्यक्तित्व अपने युग से अटूट संबंध रखता है । इस संबंध की प्रमुख परिचायिका भक्ति है । भक्ति भारत की मध्यकालीन परिस्थितियों के अत्यंत अनुकूल थी । यद्यपि भक्ति एक चिरंतन मानव-वृत्ति है तथापि मध्य काल में इसका विशेष विकास हुआ । कुछ "हारे को हरि नाम" के सुस्पष्ट सत्य के कारण, कुछ आळवार भक्तों तथा आचार्यों के प्रभाव के कारण, कुछ भागवत के प्रभाव के कारण । ग्यारहवीं

से सोलहवीं शताब्दी तक भक्ति की मंदाकिनी आसेतुहिमाचल समग्र देश में प्रवहमान रही। इस बीच रामानुज, मध्व, निम्बार्क, वल्लभ प्रभृति दाक्षिणात्य आचार्य भक्ति को दर्शन का रूप प्रदान कर रहे थे, रामानंद प्रभृति नेता भक्ति का सर्वव्यापी प्रचार कर रहे थे, असम में शंकरदेव, बंगाल में चैतन्यमहाप्रभु, बिहार में विद्यापति, उड़ीसा में सारलादास, महाराष्ट्र में नामदेव, गुजरात में नरसी, राजस्थान में मीरा (मीराँ), पंजाब में नानक, कश्मीर में लल्लेश्वरी इत्यादि अपने-अपने ढंग से भक्ति का व्यापक प्रसार कर रहे थे। भारत का हृदय उत्तर प्रदेश इस दिशा में अग्रणी था। यहाँ कबीर, सूर, तुलसी प्रभृति उच्च प्रतिभा से संपंन महामानव भक्ति का अपर-तीर्थराज निर्मित कर रहे थे। भक्ति की गंगा ने एक ओर पराजय-कुंठित हिन्दुओं के दग्ध हृदयों को शीतल किया, दूसरी ओर विजय-श्रमित मुसलमानों के रक्ताक्त कलेवरों को स्वच्छ किया। कबीर, दादू, रसखान, रहीम, रज्जब, ताज बेग़म इत्यादि मुसलमान भक्त अपने-अपने ढंग से भक्ति के प्रसार में लगे रहे। भक्ति उत्तर-दक्षिण की एकता की प्रतीक बन गई : सारे अवतार उत्तर में हुए, सारे आचार्य दक्षिण में ! बदरीनाथ के पुजारी दक्षिणी, रामेश्वरम् के उत्तरी ! मध्यकाल में भक्ति हिन्दू-मुस्लिम-एकता की आत्मा बन गई। अकबर कट्टर सूर्योपासक थे, जन्माष्टमी मनाते थे, वनगमनरत राम-सीता की मुद्रा चलाते थे; और, राजा भगवानदास ने लाहौर में मस्जिद बनवाई थी ! यदि आधुनिक भारत को तुलसीदास और अकबर जैसे नेता प्राप्त होते तो विभाजन न होता, धार्मिक हिंसा न होती ! ख्यातिलोभी गांधी, नेहरू, जिन्ना इत्यादि बौने नेताओं ने अपनी सिद्धान्तहीनता के कारण करोड़ों हिन्दू-मुसलमानों की अपार क्षति की, जिसे आज के टुच्चे व्यक्तित्वहीन तथाकथित नेता भयानकतर विस्तार दे रहे हैं।

मध्यकालीन भक्ति-व्योम के सूर्य तुलसीदास का प्रकाश सबके लिए था। उन्होंने किसी धर्म की निन्दा तो दूर, चर्चा तक नहीं की। वे आजीवन नकारात्मकता, निन्दा, कटुता इत्यादि विभाजक दुष्तत्त्वों से मुक्त भक्ति के सार्वभौम पथ को प्रशस्त करने में लगे रहे। गांधी ने मानस को "भक्तिमार्ग का सर्वोत्तम ग्रंथ" माना है क्योंकि वह निन्दा, कटुता इत्यादि से मुक्त सार्वभौम भक्ति का प्रतिपादन करता है। अपने ही शब्दों में "संस्कारात् मुसलमान और शिक्षात् ईसाई" नेहरू को भी रामचरितमानस पढ़ना पड़ा था क्योंकि जिस जनता ने उन्हें उभारा वह उसी में नहा-नहा कर पवित्र होने वाली थी : बेचारे कांग्रेसी कवि रामनरेश त्रिपाठी कभी चलकर तो कभी दौड़कर पढ़ाने जाते थे ! एक पारसी की पत्नी, एक सिख तथा एक ईसाई बहू की सास इन्दिरा तो तुलसी-प्रशंसक थी हीं : तुलसी द्वारा स्थापित संकटमोचन की तीर्थयात्री ! तुलसी सबके हैं : अपने मित्र नवाब अब्दुर्रहीम खानेखानाँ (गोद लिए हुलसी फिरै तुलसी-सो

सुत होय), अपने प्रशंसक डोम महापुरुष नाभादास के (कलि कुटिल जीव निस्तार हित बालमीकि तुलसी भए), अपने भक्त महाराज रणजीतसिंह के (जिनके महल में एक रामायणी नियुक्त था), अपने अनुवादक विद्वद्वर वारान्निकोव के (जिन्होंने मानस का रूसी-अनुवाद किया), अपने प्रेमी फ़ादर एट्किन्स के (जिन्होंने मानस का अंग्रेजी-अनुवाद किया) अपने प्रचारक मनीषी डॉ० राममनोहर लोहिया के (जिन्होंने चित्रकूट में रामायण-मेला लगवाया) ! वे मुसलमान, ईसाई, सिख, पारसी, सवर्ण, अवर्ण, राजा, रंक, साम्यवादी, समाजवादी, सब के हैं।

कबीर वेद की अध्ययनहीन निन्दा कर चुके थे, पुराणों का अवलोकनहीन परिहास कर चुके थे, ब्राह्मण को एकतरफा ललकार दे चुके थे। जायसी लिख चुके थे :

> मदति अयूब सीस चढ़ि कोपे। राम-लखन जिन्ह नाउँ अलोपे।।
> औ ताया सालार सो आए। जिन्हँ कौरौ-पंडौ बँदि पाए।।

वे इस्लाम को "बड़ पंथ" घोषित कर चुके थे। इस प्रकार की नकारात्मक एवं निन्दात्मक अथवा संकीर्ण एवं सांप्रदायिक मनोवृत्ति महान् लोकनायकत्व में सक्षम नहीं हो सकती थी। तुलसीदास ने नाकारात्मकता, निन्दा, संकीर्णता, सांप्रदायिकता इत्यादि दुर्बलताओं से मुक्त किन्तु स्पष्ट एवं सुदृढ़ सार्वभौम उदात्त भक्तिपथ का प्रतिपादन किया जिसकी समन्वयभूमि अनंत थी, जिसकी विचार-विभूति प्रशांत थी। कबीर और जायसी इत्यादि की अशिक्षा और अर्द्धशिक्षा इत्यादि ने उन्हें "अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं, प्रिय, हितं च यत्" इत्यादि से विपन्न बनाए रखा था। तुलसीदास 'वाङ्मयतप' से भली-भाँति परिचित थे। इसलिए, उनका प्रभाव अपार रहा।

मर्यादा तुलसीदास के व्यक्तित्व की ज्योति थी। अस्थायी महत्त्व के विभाजक खर-घोषों से मुक्त होकर वे व्यक्ति, समाज, राष्ट्र एवं मानवता के लिए प्रशांत-गहन मर्यादा-पथ प्रशस्त करना चाहते थे। मध्यकालीन भक्तों में उनका स्वर सर्वाधिक उदात्त, सर्वाधिक प्रशांत एवं सर्वाधिक कलासंपन्न था। उनकी विराट् प्रतिभा विभाषाओं, भाषाओं, देशों इत्यादि की सीमाएँ तोड़कर दिग्दिगन्त-व्यापिनी हो चुकी है। ग्रीअर्सन ने कहा है, "मेरे लिए समग्र पूर्व में तुलसी ही एकमात्र कवि हैं।" वारान्निकोव ने उन्हें ठीक ही 'विश्वकवि' कहा है, क्योंकि उनका पावन संदेश मानवमात्र को भौतिक मर्यादा एवं आध्यात्मिक शांति प्रदान करने के अतुलनीय सामर्थ्य से परिपूर्ण है।

अपनी उच्चतम स्तर की प्रतिभा तथा अपनी विराट् उदात्त-दृष्टि के कारण तुलसीदास का व्यक्तित्व महाकवि तथा लोकनायक के द्विविध गौरव से संपन्न हो गया है। वे विश्व के महानतम कवियों में एक हैं, वे विश्व के महानतम लोक-नायकों में एक हैं। उनकी कविता को कोटि-कोटि पाठक प्राप्त हैं, उनके नेतृत्व को कोटि-कोटि अनुयायी प्राप्त हैं। हिन्दी उन पर उचित गर्व कर सकने का पूर्ण अधिकार रखती है।

४

तुलसीदास का कृतित्व

तुलसीदास[1] का कृतित्व विश्व के किसी भी महान् साहित्यकार के कृतित्व की तुलना में बिना किसी झिझक के खड़ा किया जा सकता है। यदि वे केवल रामचरितमानस लिखते तो भी विश्व के महान् कवियों में शोभा पाते। यदि वे केवल रामचरितमानस लिखते तो भी हिन्दी-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ महाकवि होते। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि उनकी अन्य कृतियाँ साधारण हैं। विनयपत्रिका भक्ति-दर्शन की गहनतम कृति है, जिसका स्थान हिन्दी-साहित्य के श्रेष्ठतम ग्रंथों में ही हो सकता है। कवितावली एक उत्कृष्ट मुक्तक कृति है। गीतावली एक प्रौढ़ गीतिकाव्य है। दोहावली एक प्रेरक भक्ति-नीति-काव्य है। जानकीमंगल तथा पार्वतीमंगल संतोषजनक खण्डकाव्य हैं। रामललानहछू एक सुन्दर लोककाव्य है। यदि तुलसीदास रामचरितमानस न लिखते तो भी विनयपत्रिका, कवितावली, दोहावली और गीतावली इत्यादि के कारण हिन्दी-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवि होते।

महाकाव्य, खण्डकाव्य, गीतिकाव्य, मुक्तककाव्य, लोककाव्य अर्थात् काव्य के सभी रूपों में सृजन की दृष्टि से तुलसीदास विश्व के अद्वितीय कवि हैं। हिंदी में इस दृष्टि से भी वे अतुलनीय हैं। मैथिलीशरण ने लोककाव्य के अतिरिक्त सभी प्रकार के काव्य रचे हैं परन्तु उन्हें भाव तथा कला दोनों पक्षों में साधारण से कुछ ही ऊपर के स्तर की सफलता प्राप्त हो सकी है। तुलसीदास के साथ उनकी तुलना करना उनके साथ अन्याय करना होगा। उनका कोई ग्रंथ विनयपत्रिका के स्तर का स्पर्श भी नहीं कर पाता। सभी प्रचलित माध्यमों में रचना-सामर्थ्य की दृष्टि से तुलसीदास की समता सूर, कबीर तथा जायसी इत्यादि उच्चकोटि के कवि भी नहीं कर सकते। यह तथ्य सर्वविदित हो चुका है। यद्यपि तुलसीदास अलंकारवादी न थे तथापि अलंकारों के प्रयोगों में भी कोई उनसे आगे नहीं जा सकता; केशव, भूषण, देव, पद्माकर कोई नहीं। उन्होंने "अलंकार के लिए अलंकार" या "चमत्कार के लिए चमत्कार" का कृत्रिम दृष्टिकोण कभी नहीं अपनाया। उनका अलंकार-प्रयोग उनकी प्रकृति के सदृश गम्भीर एवं सौष्ठवपूर्ण है।

"वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" की सार्वभौम परिभाषा की दृष्टि से भी तुलसीदास हिंदी के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। सर्वरसनिष्पत्ति में मानस और कवितावली की समता और कोई ग्रंथ नहीं कर सकता। सूर और जायसी श्रृंगार रस के महाकवि हैं; चन्द्रवरदाई और भूषण वीर रस के, किन्तु तुलसीदास सारे रसों के महानतम कवि हैं। श्रृंगार से शान्त तक, वीर से हास्य तक, करुण से अद्‌भुत तक, सब रसों की सफलतम निष्पत्ति तक, उनकी प्रतिभा सर्वथा अतुलनीय है।

तुलसीदास द्वारा रचित कहे जानेवाले अनेकानेक ग्रंथों में बारह प्रामाणिक माने जाते हैं। हिन्दी-भाषा एवं साहित्य की सर्वश्रेष्ठ संस्था नागरी-प्रचारिणी सभा ने तुलसी-ग्रन्थावली में इन्हें ही प्रकाशित किया है। प्रथम में रामचरित-मानस; द्वितीय में रामललानहछू, वैराग्य-संदीपिनी, बरवै-रामायण, पार्वती-मंगल, जानकी-मंगल, रामाज्ञा-प्रश्न, दोहावली, कवितावली, गीतावली, श्रीकृष्ण-गीतावली और विनयपत्रिका ये ग्यारह ग्रंथ। तृतीय में तुलसीदास की जीवनी और आलोचना इत्यादि।

तुलसीदास ने भारतीय वाङ्मय की समस्त परम्पराओं का प्रभावी स्पर्श किया है। वे रामकाव्य के, वाल्मीकि के साथ, एक विश्व-विश्रुत सीमांत हैं। रामचरितमानस वाल्मीकि-रामायण, अध्यात्म-रामायण और तुलसी की प्रकरण वक्रता का अतीव कलामय पावन प्रयाग है। अपने संदेश और अपनी कला में मानस पूर्णतः मौलिक ग्रन्थ है। रामचरितमानस, कवितावली, गीतावली, जानकी-मंगल, बरवै-रामायण, रामाज्ञा-प्रश्न एवं रामललानहछू में वे रामकाव्य के प्रति-निधि एवं अतुलनीय महाकवि के रूप में प्रकट होते हैं। मानस के अनेक अंशों एवं पार्वती-मंगल में वे शिवकाव्य के कवियों के उत्तराधिकारी के रूप में प्रकट होते हैं। श्रीकृष्ण-गीतावली के द्वारा वे कृष्णकाव्य का स्पर्श करते दृष्टिगोचर होते हैं। रामकाव्य, कृष्णकाव्य एवं शिवकाव्य भारतीय साहित्य में सर्वाधिक महत्त्व रखते हैं। तुलसीदास किसी-न-किसी रूप में तीनों का स्पर्श करते हैं। विनयपत्रिका एक महान् भक्तिकाव्य है। भक्ति भारतीय, विशेषतः मध्य-कालीन, साहित्य की महती विभूति है। मानस और विनयपत्रिका भक्ति-तत्त्व के सर्वश्रेष्ठ काव्य हैं। दोहावली और वैराग्यसंदीपिनी नीति और वैराग्य के काव्य हैं। भारत का नीतिकाव्य विश्व में सर्वोपरि एवं अतुलनीय है। रामायण, महाभारत मानस प्रभृति महाकाव्यों में तो उसकी विभूति व्याप्त है ही, भर्तृहरि और तिरु-वल्लुवर जैसे महान् स्रष्टा-द्रष्टा भी स्वतन्त्र एवं गौरवशाली ग्रंथों का प्रणयन कर गए हैं। हिन्दी का अपना नीतिकाव्य भी अत्यन्त व्यापक एवं उत्कृष्ट है। कबीर, तुलसी, रहीम, वृन्द, गिरिधर, दीनदयाल गिरि इत्यादि इस दिशा के प्रख्यात अभिधान हैं। तुलसीदास यहाँ भी विद्यमान हैं। हिन्दी-साहित्य में इतनी अधिक और व्यापक परम्पराओं का संस्पर्श कोई कवि नहीं कर सका। संस्कृत तक में

कोई कवि इस दिशा में तुलसीदास की समता नहीं कर सकता।

आकाशवत् अनन्त भारतीय संस्कृति की अनन्त अभिव्यक्ति, महान् प्रभाव, अवधी-ब्रज-संस्कृत में अद्वितीय अभिव्यक्ति-सामर्थ्य, सौष्ठवपूर्ण और सहज अलंकरण, अत्यन्त व्यापक छन्द-योजना आदि मिलकर तुलसीदास को सफलता-पूर्वक हिन्दी-साहित्य का सर्वश्रेष्ठ और अतुलनीय महाकवि घोषित कर देते हैं; उन्हें विश्व के सर्वश्रेष्ठ महाकवियों की पंक्ति में प्रतिष्ठित कर देते हैं। तुलसीदास हिन्दू-संस्कृति के प्राण, भाषा के गौरव, हिन्दी-साहित्याकाश के सूर्य हैं; तुलसी-दास विश्व के अमर और महानतम कवियों में एक हैं।

५

तुलसी-काव्य का सामाजिक पक्ष

मध्यकालीन भारत की आत्मा एवं हिन्दी-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ महाकवि प्रात:-स्मरणीय गोस्वामी तुलसीदास के व्यक्तित्व के दो पक्ष हमारे समक्ष शतशः स्पष्ट रूपों में प्रकट होते हैं; एक धर्मनेता अथवा समाजसुधारक का, दूसरा महाकवि का। धर्म-नेता के रूप में वे व्यास और शंकराचार्य के उत्तराधिकारी हैं, महाकवि के रूप में वाल्मीकि और कालिदास के। तुलसीदास का द्विविध-व्यक्तित्व विश्व-काव्य में अतुलनीय है। सर जॉर्ज ग्रीअर्सन ने उन्हें भारत के "सर्वश्रेष्ठ सुधारकों एवं महाकवियों में एक" बतलाया है, विनोबा भावे ने उन्हें "बुद्ध के पश्चात् उत्तरभारत का महान् लोकनायक" घोषित किया है। अपनी अकुण्ठित धर्म-दृष्टि के कारण वे हिन्दू-धर्म को सशक्त एवं संव्यूहित करने में अतुलनीय रूप से सफल हुए; उनका प्रभाव अनवरत रूप से संवर्द्धमान होता चला गया। इतिहासकार विंसेन्ट स्मिथ ने उनको मुग़लकालीन भारत का सर्वश्रेष्ठ महापुरुष इसी दृष्टि से कहा है; अकबर का साम्राज्य समाप्त हो चुका है किन्तु तुलसी का साम्राज्य विद्यमान है, वर्द्धमान है। इतिहासविद् डॉ० ईश्वरी प्रसाद ने भी इस तथ्य को आदरपूर्वक स्वीकार किया है।

तुलसीदास भारत की धर्म-प्राणता से भली-भाँति परिचित थे। धर्म का व्यापक अर्थ उन्हें भली-भाँति ज्ञात था; "धारणात् धर्ममिति आहुः धर्मों धारयते प्रजा:" से लेकर "स्वधर्मे निधनं श्रेय: परधर्मो भयावहः" इत्यादि तक प्राय: सभी महान् निष्पत्तियों का उन्हें पूर्ण बोध था। वे समाज-सुधार धर्मभूमि पर ही करना चाहते थे और यह समयानुकूल भी था। यद्यपि उनकी धर्मदृष्टि अत्यन्त उदार थी ("आभीर यवन किरात खस" इत्यादि का समन्वयपरक उल्लेख वे मानस से लेकर विनयपत्रिका तक करते दृष्टिगोचर होते हैं) तथापि वे हिन्दू समाज को छिन्न-भिन्न होते नहीं देख सकते थे। यद्यपि उन्होंने हिन्दू-मुसलमान जैसे शब्दों का प्रयोग नहीं किया तथापि

अधम निसाचर लीन्हें जाई।
जिमि मलेछ बस कपिला गाई ॥

के तथ्य से वे अवगत थे। अत: उन्होंने हिन्दू-समाज को अकुंठित शक्ति से

सम्पन्न करने का उद्देश्य सदैव अपने समक्ष रखा। अकुंठित शक्ति से अभिप्राय अपने धर्म को हीन न समझना प्रत्युत उसे उत्कृष्ट समझना है। ऐसी शक्ति धर्म की आभ्यन्तर एकता के द्वारा ही प्राप्त हो सकती थी। इसके लिए उन्होंने शिव, शक्ति, विष्णु, विभिन्न देवी-देवताओं इत्यादि सबको पूर्ण सम्मान प्रदान किया, यद्यपि इससे उनकी राम-भक्ति शतशः संपुष्ट ही हुई। शैव, शाक्त, वैष्णव, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, निर्गुण-सगुण, साकार-निराकार, ज्ञान-योग-कर्म इत्यादि सब-कुछ उनकी महान् समन्वय-साधना को यथास्थान एवं यथास्थिति रूपों में स्वीकार है, किन्तु यह स्वीकरण राम-भक्ति को संपुष्ट करने के लिए ही है। तुलसी ने विश्रृंखल हिन्दूसमाज को सुश्रृंखल करने की दिशा में महान् सफलता प्राप्त की। हिन्दूसमाज को गत सहस्राब्दि में उनकी समता का कोई महान् नेता नहीं प्राप्त हुआ।

तुलसीदास हिन्दूसमाज को स्वगत संकीर्णता से मुक्त करना चाहते थे। वे शिव, शक्ति, गणेश, सूर्य, गंगा, यमुना, श्रीकृष्ण इत्यादि देवी-देवताओं की श्रद्धामयी संस्तुति करते हैं; यही नहीं, विष्णु के अवतार के रूप में बुद्ध की स्तुति करते में भी नहीं झिझकते, यद्यपि अन्यत्र वेद-निन्दा के कारण इस अवतार के निन्दित होने की चर्चा स्पष्ट रूप से करते हैं। वे हिन्दूसमाज को परवर्ती विकृतियों से मुक्त करना चाहते थे। योग के नाम पर अहंकार को प्रश्रय देना उन्हें अभीष्ट नहीं था ("गोरख जगायो जोग भगति भगायो लोग") उनके योगी शिव परम भक्त हैं, अतीव नम्र हैं। तुलसीदास मनु की "वेदोऽखिलो धर्ममूलम्" की स्थापना को अखण्डित रखना चाहते थे और इसी के अन्तर्गत उन्हें कोई भी विकास स्वीकार हो सकता था। कबीर इत्यादि की निराधार वेद-निन्दा उन्हें अनुत्तरदायित्वपूर्ण लगती थी, जायसी इत्यादि की लौकिक-अलौकिक प्रेम की बेमेल खिचड़ी उन्हें नहीं रुचती थी :

साखी सबदी दोहरा कहि किहनी उपखान।
भगति निरूपहिं भेद कलि निंदहि बेद पुरान॥

निरक्षर एवं अर्द्धशिक्षित व्यक्तियों की अनुत्तरदायित्वपूर्ण वेद-निन्दा से हिन्दू-समाज के आधारविहीन हो जाने का भय था। वेद हिन्दू-समाज का आधार है। परवर्ती धर्म-विकास वेद-मान्यता से सम्पन्न है। वेद-पुराण का प्रत्या-ख्यान हमारी सनातन संस्कृति को विकृत कर सकता था। अतएव, तुलसीदास ने उसकी आलोचना की। कबीर की प्रतिभा नकारात्मक थी; वे वेद, पुराण, क़ुरान, ब्राह्मण, मुल्ला, सबका विरोध करते थे। वे एक उच्चकोटि के नकारात्मक सुधारक थे। उनका प्रभाव सर्वथा सीमित ही रह सकता था। नकारात्मक भूमि पर लोकप्रियता सीमित रूप में ही प्राप्त की जा सकती है। नकारात्मक दृष्टि विराटवाद-विपन्न ही हो सकती है।

तुलसी हिन्दू-समाज के शाश्वत आधारों के रक्षक थे, किन्तु प्रतिक्रियावादी नहीं, जैसा कि डॉ० ताराचंद जैसे कुछ महानुभावों ने माना है। उनकी भक्ति गुह, निषाद, शबरी, वानर, निशाचर सबके लिए पावनकारी है, यवनादि के लिए भी पावनकारी है। वे रामानुज, मध्व इत्यादि की अपेक्षा अधिक सार्वभौम भक्ति-मार्ग का प्रतिपादन करते हैं। निस्सन्देह नारी तथा शूद्र से सम्बद्ध कतिपय कथन समय-सीमा के सूचक हैं, किन्तु वे भक्तिपथ के सार्वभौमत्व में बाधक नहीं हैं।

तुलसी-काव्य हिन्दू-समाज को उसके समग्रत्व में प्रस्तुत करता है। हिन्दू-समाज ब्रह्म की निर्गुणता, निराकारता, व्यापकता, सर्वशक्तिमत्ता इत्यादि से भली-भाँति परिचित है। उपनिषद् परमात्मतत्त्व का विवेचन करनेवाले विश्व-वाङ्मय के सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ हैं। किन्तु हिन्दू-समाज सर्वशक्तिसम्पन्न परमात्मा से सगुण-साकार रूप-ग्रहण कीशक्ति छीनना अनुचित मानता है। वेद का प्रतीकवाद अथवा देवसान्निध्यवाद उपनिषद् के अहंब्रह्मास्मिवाद तथा पुराणों के अवतार-वाद का मूल है। अवतारवाद 'न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्' सिद्धान्त की चरम उपलब्धि है। ऋग्वेद एवं यजुर्वेद के पुरुष-सूक्त महाभारत-सम्बद्ध गीता के विराट् रूप के मूल हैं। अवतारवाद मानवीय महिमा का महत्तम जयनाद है। भारतीय मनीषा ही इस उत्कर्ष तक पहुँच सकी है, अन्यत्र विभु के वार्तावह अथवा विभु के पुत्र तक की उपलब्धि ही हो सकी है। तुलसीदास वेद-पुराण को एकरस श्रद्धा प्रदान करते हैं जो तत्वतः उचित है, गम्भीर भी। "एवं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति" के श्रुतिवाक्य को तुलसीदास से अधिक किसी ने नहीं समझा। तुलसीदास हिन्दू-समाज को सारे तत्त्वों से संपृक्त रखना चाहते थे; साथ ही उसे विकसित करना भी चाहते थे। इसमें वे पूर्णतः सफल हुए; हिन्दी-भाषी क्षेत्रों में तथा अन्यत्र भी हिन्दूधर्म को तुलसीधर्म कहने वाले सज्जन इसी तथ्य को स्पष्ट करते हैं।

समाज में धर्म के सर्वोपरि महत्त्व से भली-भाँति परिचित तुलसीदास धार्मिक पाखण्ड के प्रबल विरोधी थे। पाखण्डी ब्राह्मणों का जैसा सटीक प्रत्याख्यान उन्होंने किया है वैसा किसी अन्य व्यक्ति ने नहीं। किन्तु वे पाखण्डी 'ब्रह्मज्ञानियों' से भी भली-भाँति परिचित थे :

ब्रह्मज्ञान बिनु नारि-नर करहिं न दूसरि बात।
कौड़ी लागि लोभबस करहिं विप्र गुरु घात॥

वे धर्म में आस्था की विनम्रता के अनन्य प्रतिपादक थे। अहंकार उन्हें किसी भी रूप में मान्य नहीं था। भक्तिमार्ग का प्रतिपादन उन्होंने उदात्त-व्यवहारवाद के रूप में किया है, क्योंकि इसमें अहंकार एवं पाखण्ड के लिए अवकाश नहीं है।

तुलसीदास सामाजिक मर्यादा के प्रबल समर्थक थे। पार्वती के शिव-परामर्श न मानने तथा सीता के लक्ष्मण-रेखा को पार करने पर जो कुछ हुआ वह सामान्य

प्राणी को अमर्यादित होने पर उत्पन्न प्रतिक्रिया की सूचना देने के लिए पर्याप्त है। उन्होंने परिवार में राम इत्यादि, राजनीति में रामराज्य, मनःशान्ति प्राप्ति में गरुड़ इत्यादि के विविध-देशीय निदर्शन बाह्य-आभ्यन्तर-अनुशासन के प्रतिपादनार्थ भी प्रस्तुत किए हैं। तुलसी की समाज-दृष्टि आत्मसंयम, आत्मानुशासन एवं आत्मविकास का सम्पादन करती है, उनकी राजनीति अथवा उनका रामराज्य व्यास के—

नैव राज्यं न राजासीत् न दण्डो न च दण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वाः रक्षन्तिस्म परस्परम् ॥

तथा प्लेटो के 'गणतंत्र' का विकास है। गांधी का उस पर मुग्ध होना स्वाभाविक था।

मर्यादा तुलसी-काव्य के सामाजिक पक्ष की रीढ़ की हड्डी है। संयम-नियम से पुष्ट तन, नति-नीति से पुष्ट मन एवं भक्ति-प्रपत्ति से पुष्ट जीव, यही तुलसीदास का आदर्श है। इस व्यष्टिगत आदर्श से निर्मित समष्टि स्वभावतः पुष्ट होगी। रामराज्य का पुष्ट आदर्श इसी का परिणाम है। तुलसी ने व्यष्टि एवं समष्टि के समग्र लक्ष्यों को राम के व्यष्टिगत एवं समष्टिगत रूपों में प्रतिपादित कर दिया है। वे समाज को शक्ति, शील एवं सौन्दर्य से परिपूर्ण देखना चाहते हैं। रामराज्य का समाज ऐसा ही है।

तुलसी-काव्य का सामाजिक पक्ष भारतीय संस्कृति के समाहार को स्वीकार करता चलता है, किन्तु वह प्रतिक्रियाजन्य तत्त्वों अथवा कुण्ठाओं अथवा नकारात्मकताओं के प्रत्याख्यान के प्रति निष्क्रिय नहीं है। उसे किसी धर्म से ईर्ष्या नहीं है। तुलसीदास ने किसी भी धर्म की निन्दा नहीं की। रहीम खानेखानां प्रभृति मुसलमान महापुरुषों से उनकी मैत्री की कथाएँ अद्यावधि प्रचलित हैं। किन्तु तत्कालीन शासक-धर्म से समझौते की कबीर-नानक इत्यादि की जैसी कोई चेष्टा उन्होंने नहीं की। वे ऐसे समझौते से होने वाले दुष्परिणामों को समझने की दूरदृष्टि से सम्पन्न थे। ऐसे समझौते से हिन्दूधर्म को हानि ही हो सकती थी, क्योंकि तत्कालीन परिस्थितियाँ इसी तथ्य के अनुकूल थीं। पंथ-प्रवर्तन अथवा धर्म-प्रवर्तन से हिन्दूसमाज दुर्बल हुआ है। तुलसी इस तथ्य से परिचित थे; एक भविष्यद्रष्टा ऋषि के सदृश। "कलपहिं पंथ अनेक" इत्यादि उद्‌गार इस तथ्य को स्पष्ट कर देते हैं।

तुलसी की समाजदृष्टि उपयुक्त समन्वय, उपयुक्त शक्ति एवं उपयुक्त भक्ति की त्रिवेणी है। वह सार्वभौम एवं उदार भी है, परम्परा-सम्पन्न एवं सुदृढ़ भी। यही कारण है कि तुलसीदास भारतीय समाज एवं संस्कृति के महानतम रक्षकों एवं नेताओं की पंक्ति में भी प्रतिष्ठित हो चुके हैं। विश्व के इतिहास में कोई अन्य कवि ऐसी प्रतिष्ठा प्राप्त करता दृष्टिगोचर नहीं होता।

६

भारतीय संस्कृति के समुन्नायक : तुलसी

संस्कृति शब्द सम् और कृति शब्दों के योग से निर्मित है जिसका अर्थ है सम्यक् कृति अर्थात् महान् रचना, महान् साधना, महान् सर्जना। यदि सभ्यता मानवता का शरीर है, तो संस्कृति आत्मा। सभ्यता शब्द सभा अर्थात् सामाजिकता से सम्बद्ध है। वेशभूषा, ऐश्वर्य-सज्जा, भवन, नगर, मार्ग-वाहन, गति-प्रगति इत्यादि सभ्यता के प्रतीक हैं। स अर्थात् सहित, भा अर्थात् प्रकाश। सभ्यता सामूहिक प्रकाश की द्योतक है। धर्म, दर्शन, कला, कविता इत्यादि संस्कृति के प्रतीक हैं। सभ्यता और संस्कृति का शरीर और आत्मा के सदृश अन्योन्य सम्बन्ध एक स्वयं-सिद्ध तथ्य है। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं।

भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीनतम और महानतम संस्कृतियों में परि-गणित है। अनवरत जीवंतता में उसकी समता कहीं नहीं प्राप्त होती, क्योंकि प्राचीन मिस्र, मेसोपोटामिया (ईराक), ईरान, चीन और यूनान की संस्कृतियाँ ऐतिहासिक घटनाचक्र और प्रवाह में अत्यधिक परिवर्तित हुई हैं, जबकि भारतीय संस्कृति अपने मूल वैदिक स्वरूप से संपृक्त चली आ रही है, भले ही उसने शत-शत परिवर्तनों और विकासों को आत्मसात् किया हो, क्योंकि परिवर्तन और विकास मानवता के चरण हैं, गति-प्रतीक हैं, वरेण्य हैं; अमरता और गतिशीलता का जैसा अद्भुत समन्वय भारतीय संस्कृति के इतिहास में दृग्गत होता है वैसा अन्यत्र कहीं नहीं। सब-कुछ अपनाते हुए भी, अपने मूल स्वरूप और स्वर को संस्फूर्त और जीवंत बनाए रखना भारतीय संस्कृति में प्राप्त सर्वोच्च चमत्कार है। जोड और जवाहारलाल इत्यादि ने भारतीय संस्कृति में प्राप्त समन्वय-तत्त्व की जो भूरि-भूरि प्रशंसा की है, वह सर्वथा समीचीन है। भारत 'एकता में अनेकता' और 'अनेकता में एकता' का प्रतीक महतोमहीयान् राष्ट्र है।

भारतीय संस्कृति का क्रमबद्ध और व्यवस्थित इतिहास वैदिककाल से आरंभ होता है, जिसके परवर्ती सोपान बौद्धकाल, पौराणिक काल, मध्यकाल और आधुनिक काल हैं। भारतीय संस्कृति का इतिहास इन पाँच कालों में समुचित रूप से विभाजित किया जा सकता है। वैदिककाल में तत्त्वतः "एकं सद् विप्रा बहुधा

वदन्ति"[१] और "एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति"[२] से अभिज्ञ होते हुए भी वस्तुतः धर्म, दर्शन, कला, काव्य और कर्म बहुदेववादी थे, यज्ञप्रधान थे, पुरुषार्थ (धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष) से ओतप्रोत थे। इस काल का धर्मकाण्ड चार संहिताओं, कर्मकाण्ड ब्राह्मणादि और ज्ञानकाण्ड उपनिषदों में व्यक्त हुआ है, जो जीवंतता और ऊर्जा से परिपूर्ण है। ऋग्वेद का जीवन इलिअॅड के जीवन से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है : बहुदेववाद में, यजन में, पूजन में, युयुत्सा में, जिजीविषा में, विजिगीषा में, शक्तिमत्ता में, प्राणवत्ता में; किंबहुना, अधिकांश प्रवृत्तियों में। प्राचीनतम सभ्यता और संस्कृति का स्वरूप जैसा ऋग्वेद में व्यक्त हुआ है वैसा इलिअॅड के अतिरिक्त किसी ग्रंथ में नहीं। बौद्धकाल प्रतिक्रियाजन्य काल था, जिसमें परमात्मा, आत्मा, देवता, यज्ञ इत्यादि का प्रत्याख्यान विद्यमान था। यह काल व्यक्तिपूजा का काल था, जिसमें बलि और हिंसा की विगर्हणा की गई, मानव-मूल्यों का अधिकाधिक प्रतिपादन किया गया। बौद्धकाल में वैदिककाल की शक्तिमत्ता और प्राणवत्ता का स्थान योग और निर्वेद ने ग्रहण कर लिया। मैथिलीशरण[३] और प्रसाद[४] इत्यादि ने इस तथ्य के प्रत्यक्ष और परोक्ष निरूपण किए हैं। पौराणिक काल में बौद्धकाल की प्रतिक्रिया के परिणाम-स्वरूप पुनः वेद-प्रतिष्ठा हुई, बहुदेववाद-प्रतिष्ठा हुई, कर्मकाण्ड-पुनरोदय हुआ, अवतारवाद उभरा तथा उसने जैन-तीर्थंकरवाद और बौद्ध-बोधिसत्त्वावतारवाद को अशक्त कर दिया। बुद्ध और महावीर के स्थान पर राम और कृष्ण को प्रतिष्ठित किया। पौराणिककाल समन्वय का महान् काल था जिसमें वैदिक बहुदेववाद, औपनिषदिक सर्ववाद अथवा अद्वैतवाद (जिसमें एकेश्वरवाद अनायास ही समाहित हो जाता है) तथा बौद्ध अहिंसावाद एकरूप कर दिए गए थे। आज भी हिन्दूधर्म और भारतीय संस्कृति पर पौराणिककाल का प्रभाव सर्वाधिक व्यापक रूप में दृष्टिगोचर होता है।[५] मध्यकाल में इस्लाम के स्थूल एकेश्वरवाद और संकीर्ण समतावाद का भी प्रभाव पड़ा तथा भारतीय संस्कृति के आयाम व्यापकतर बने। आधुनिककाल में ईसाई धर्मपरिवर्तनमूलक सेवावाद के योग से इन आयामों को और अधिक विस्तार प्राप्त हुआ। किन्तु वैदिक बहुदेववाद और कर्मकाण्ड आज भी किसी-न-किसी गुण-परिमाण में विद्यमान हैं, बौद्ध अहिंसावाद

१. ऋग्वेद १/१६४/४६
२. ऋग्वेद १/१४४/५
३. वेदमार्गियों में आ पहुँचा यह निर्वेद कहाँ से ?
   लौटा ले जाओ हे उद्धव ! लाए इसे जहाँ से। (द्वापर)
४. देखें इरावती।
५. देखें हिन्दूधर्म (रामप्रसाद मिश्र)।

उसी में समाहित कर लिया गया है, पौराणिक अवतारवाद उसी में समाहित कर लिया गया है, इस्लामी-ईसाई एकेश्वरवाद-समतावाद-सेवावाद उसी में समाहित कर लिया गया है। सहस्राब्दियों में प्रसरित ऐसी विराट् और विशद् सांस्कृतिक एकतानता और एकरसता, समन्वयशीलता और उदारता मानव जाति के इतिहास में अन्यत्र उपलब्ध नहीं होती। भारतीय संस्कृति जोड़ने की संस्कृति है, मोड़ने की संस्कृति है; तोड़ने की संस्कृति नहीं, छोड़ने की संस्कृति नहीं। इसीलिए, वह चिरंतन है, शाश्वत है। उसकी अप्रतिम गरिमा के समक्ष विश्व के अनेक महान् विद्वान्, दार्शनिक, कवि और कलाकर विनत हुए हैं और होते रहते हैं : शॉपेन-हॉएर, मैक्समुलर, इमर्सन, थोरो, रोसेटी, व्हिट्मैन, इल्या एहरेम्बर्ग, विल ड्यूरां इत्यादि की सूची बहुत लम्बी हो सकती है।[1] विश्व के सांस्कृतिक इतिहास में भारत का अद्वितीय स्थान उसकी समन्वय-साधना और उदारता के कारण ही बन सका है। भारतीय संस्कृति एक गतिशील संस्कृति है क्योंकि वह अपने मूल उत्स से सदैव संयुक्त रही है। वह सदैव लचीली रही है, क्योंकि कभी टूटी नहीं।

तुलसीदास, व्यास के साथ-साथ, भारतीय संस्कृति के महानतम आख्याता, व्याख्याता और उन्नायक हैं। केवलमात्र महाभारत और रामचरितमानस भारतीय संस्कृति के विश्वकोश कहे जा सकते हैं, क्योंकि इन्हीं में उसकी बहुरंगी आस्था, पुरुषार्थ (धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष) की पूर्णता, पथों (ज्ञान-योग-भक्ति-कर्म) की विविधता और विविधता में निहित एकता, जिजीविषा, विजिगीषा इत्यादि महत्तम प्रवृत्तियाँ विशद् रूप से चित्रित की गई हैं। व्यास और तुलसीदास समन्वय के सीमांत हैं। दोनों विश्वकवि हैं।

जहां तक वैदिक संहिताओं के अध्ययन का सम्बन्ध है, ऐसा प्रतीत होता है कि तुलसी ने उनका व्यवस्थित एवं संवेदनपूर्ण अध्ययन नहीं किया था, क्योंकि ऋग्वेद के प्रधान देवता इंद्र के संदर्भ में "सूख हाड़ लै भाग सठ स्वान निरखि मृगराज" की उपमा, वेद का 'बंदि रूप' धारण करना, वसिष्ठ का नेग माँगना, भोजन के "छ रस चारि बिधि जस श्रुति गावा" इत्यादि से यही सूचना मिलती है। 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य का इतिहास', 'केशव की काव्यकला' तथा 'कविवर रत्नाकर' के विद्वान् प्रणेता आलोचकप्रवर स्वर्गीय पण्डित कृष्णशंकर शुक्ल ने एक बार मुझसे कहा था, "जो वेद मैंने पढ़ा है उसमें 'छ रस चारिबिधि' का वर्णन नहीं है, किन्तु जो तुलसी ने पढ़ा था उसमें अवश्य रहा होगा!" डॉ० मुंशी राम शर्मा 'सोम' ने 'तुलसी और उनका मानस' में आर्य समाज की दृष्टि से तुलसी

---

१. देखें 'डिस्कवरी ऑफ़ इंडिआ।' (जवाहरलाल नेहरू), 'संस्कृति के चार अध्याय' (दिनकर), 'हिन्दू अमेरिका' (भिक्षु चमनलाल), 'हिन्दुइज़्म' (रामप्रसाद मिश्र), 'भारत की एकता' (रामप्रसाद मिश्र)।

की एतद्विषयक विस्तृत आलोचना की है।

तुलसी ने उपनिषदों का अध्ययन किया था, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है क्योंकि मानस के उत्तरकांड का ब्रह्मनिरूपण और विनयपत्रिका में प्रायः आद्यंत-व्याप्त अद्वैतवाद यही सूचना देता है। तुलसी वैदिक साहित्य के नहीं प्रत्युत पौराणिक साहित्य के अध्येता, आख्याता और व्याख्याता हैं। परन्तु वे सार्वभौम वैदिक आधार को, कबीर इत्यादि नकारात्मकतावादियों के सदृश, उच्छिन्न नहीं करना चाहते। वेद भारतीय संस्कृति का शाश्वत और सार्वभौम आधार है। वेद क्रिया है, बौद्ध और जैन साहित्य प्रतिक्रिया। जिस प्रकार व्यास और शंकराचार्य जैसे उद्भट आचार्यों और प्रकांड पंडितों ने वैदिक आधार को शिथिल न होने देते हुए भी भारतीय संस्कृति का विकास और उन्नयन किया था, उसी प्रकार तुलसीदास ने। भारत में वेदाधार को दुर्बल करनेवाले तत्त्व अंततोगत्वा असफल ही रहे हैं, यह वेद की चिरंतन प्राणवत्ता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। तुलसी वैदिक आधार पर ही सांस्कृतिक विकास के प्रतिपादक हैं। वेदाधार को दुर्बल करनेवाले तत्त्वों की वे विगर्हणा करते हैं, मनु के सदृश "वेदोऽखिलोधर्ममूलम्" के तत्त्व का वे प्रतिपादन करते हैं :

अतुलित महिमा बेद की, तुलसी किए बिचार।
जो निंदत निंदत भयो बिदित बुद्ध अवतार ॥[1]

वेद की शक्ति अपरिमेय है और इस तथ्य का सर्वोपरि निदर्शन तुलसी यह कह कर देते हैं कि वेद की निन्दा के कारण विश्ववंद्य बुद्ध तक निंदित हुए।[2] विनयपत्रिका में तुलसी ने बुद्ध की वंदना की है : पालक विष्णु के अवतार के रूप में। किन्तु बुद्ध का निजस्थापनमूलक वेद-प्रत्याख्यान उन्हें आलोच्य लगा जो दोहावली से स्पष्ट है। तुलसी ने तथाकथित निर्गुणमार्गियों की स्वपूजामूलक, अध्ययनहीन और अनुत्तरदायित्वपूर्ण वेदनिन्दा एवं सूफ़ियों की तत्वतः इस्लाम-प्रसारमूलक वेद-पुराण-आधारच्युत स्वच्छंद कथावृत्ति का प्रत्याख्यान कड़े शब्दों में किया है क्योंकि ये तत्त्व उनको भारतीय संस्कृति के व्यापक और शाश्वत आधारों को दुर्बल करने वाले प्रतीत हुए थे। इस संदर्भ में उन्होंने समग्र उपेक्षा का प्रदर्शन करते हुए किसी का नाम लेना भी उचित नहीं समझा :

साखी सबदी दोहरा, कहि किहनी उपखान।
भगति निरूपहिं भगत कलि, निन्दहिं बेद पुरान ॥[3]

पंथप्रवर्तन मूलतः व्यक्तिपूजा का प्रस्फोट है जिसमें परमात्मा और आत्मा

---

१. दोहावली ४६४

२. बुद्धू शब्द का अब तक प्रचलन है।

३. दोहावली ५५४

इत्यादि चिरंतन और सार्वभौम तत्त्व गौण हो जाते हैं तथा पंथप्रवर्तक इनका स्थान ग्रहण कर लेते हैं। पंथों और वादों ने मानवजाति की अपार क्षति की है। इनके कारण भयानक रक्तपात हुए हैं, घृणा का प्रसार हुआ है, मार्क्स और लेनिन इत्यादि को धर्म को अफ़ीम कहने का अधिकार प्राप्त हुआ है। व्यक्तिपूजामूलक धर्मप्रवर्तकों और पंथप्रवर्तकों की प्रगतिशील विगर्हणा कर तुलसी सार्वभौम और शाश्वत धर्म (धारणात् धर्ममिति आहुः धर्मो धारयते प्रजाः" परिभाषा में व्यक्त धर्म) का समर्थन करते हैं :

श्रुतिसम्मत हरिभक्तिपथ संजुत-बिरति-बिबेक।
तेहिं परिहरहिं बिमोहबस, कल्पहिं पंथ अनेक ।।[१]

धर्मप्रवर्तकों तथा पंथप्रवर्तकों का मूल उद्देश्य स्वपूजाप्रवर्तन रहा है जो लोकेषणामूलक, मोहमूलक एवं कल्पनामूलक है। संसार को व्यक्तिपूजा की नहीं, ध्येयपूजा की अपेक्षा है। मानव को एकता की आवश्यकता है, पंथबाहुल्यजन्य पृथक्तावाद की नहीं। तुलसी ने स्वपूजाव्यामोह के पंथप्रवर्तनकाल में शाश्वत सांस्कृतिक मूल्यों का प्रचार-प्रसार करके लोकेषणामुक्ति का अप्रतिम परिचय दिया है। सर जॉर्ज ग्रीअर्सन ने उनकी एतद्विषयक प्रशस्ति एकदम ठीक की है। तुलसी की विनम्रता अतुलनीय है। इसलिए, वे महिमा और प्रभाव में सर्वोपरि सिद्ध हो सके। वे धर्माडम्बर और गुरुडम के नहीं; शाश्वत मानवीय मूल्यों और सरलता के प्रचारक और प्रसारक हैं।

भारतीय संस्कृति के आद्याधार वेद की प्रतिष्ठा को अप्रतिहत रखते हुए भी तुलसी एक गतिशील चिन्तक हैं। वे "स हि धम्मो सनन्तनो"[२] के प्रतिपादक बुद्ध की पालक विष्णु के अवतार के रूप में स्तुति करते हैं। भागवत इत्यादि में बुद्ध को विष्णु का अवतार घोषित कर पुराणकारों ने महिमा के स्वीकरण की विलक्षण उदारता और समन्वयशीलता का परिचय दिया है। तुलसी ने भी ऐसा ही किया है :

प्रबल-पाखंडमहिमंडलाकुल देखि निंद्यकृत्-अखिल-मखकर्म-जालं।
शुद्ध बोधैक घन ज्ञान गुन धाम अज बुद्ध अवतार बंदे कृपालं ।।[३]

बुद्ध भारत के ही नहीं अपितु विश्व के सर्वश्रेष्ठ महापुरुषों में एक हैं। ईसा पर उनके प्रभाव को विल ड्यूरां इत्यादि ने स्वीकार किया है। उनके अनेक विचारबिन्दु अग्राह्य और अव्यावहारिक हो सकते हैं किन्तु उन्होंने अहिंसा, क्षमा, दया इत्यादि मानवीय मूल्यों का प्रशस्य विकास अवश्य किया है। तुलसी ने यत्र-

---

१. दोहावली ५५५
२. वही सनातन धर्म है : धम्मपद्म में कई बार।
३. विनयपत्रिका ५२/१५-१६

तत्र-सर्वत्र इन मूल्यों का प्रतिपादन कर इनका उत्तराधिकार भी ग्रहण किया है। उनकी समन्वयशीलता और उदारता कहीं से भी तत्त्व के ग्रहण में सतत् सचेष्ट रही है। इसीलिए चाहे 'द मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ़ हिन्दुस्तान' के लेखक ईसाभक्त ग्रीअर्सन हों या 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' के लेखक कबीर-भक्त हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, सभी उन्हें एक महान् सुधारक और संस्कृतिरक्षक स्वीकार करते हैं।

पौराणिककाल तक आते-आते भारतीय संस्कृति अतीव स्फीत हो चुकी थी, जिसमें वैदिक बहुदेववाद, आदिम मातृशक्तिवाद, बौद्ध अहिंसावाद इत्यादि का समन्वय हो गया था। ऋग्वेद के इंद्र, अग्नि, सोम, अश्विद्वय, ऋभुगण, रुद्र, मरुत्, सूर्य, अदिति, उषा, सरस्वती, नदी, वन, गो इत्यादि तैंतीस देवता अब तक तैंतीस करोड़ हो गए थे। धन्य है भारत की विकासशील मनीषा जो संख्याभीरु नहीं होती ! तभी तो वह विश्व के विज्ञान को शून्य और दशमलव का दान कर असंख्या से परिचित करा सकी है ! 'नुह सिपहर' के प्रणेता अमीर खुसरो ने स्पष्ट लिखा है कि हिन्द के आसा नामक ब्राह्मण अंकगणित को भारत से अरब ले गए, जिसके कारण अरबी में यह विद्या हिंदसा कहलाई। 'एन्साइक्लोपीडिआ ब्रिटेनिका' तक अंकगणित का उद्भव भारत में स्वीकार करता है। अज्ञान संख्या-भीरु होता है, ज्ञान नहीं। अज्ञान साफ़-सफ़ाट सुविधाप्रिय होता है, ज्ञान नहीं। 'एक से अनेक' और 'अनेक से एक' भारतीय मनीषा की एक महती उपलब्धि है। समन्वयशील होते हुए भी, पौराणिककाल में भारतीय संस्कृति का स्वरूप वैदिक उद्गम से उच्छिन्न नहीं हुआ। उसमें निवृत्ति को गौरवशाली स्थान प्राप्त है, किन्तु प्रधानता प्रवृत्ति को ही प्रदान की गई है। पुराणों के महायोगी शिव ने दो विवाह किए हैं। रामायण के राम वनवास-साधना में सीता को साथ ले गए हैं। महाभारत के पाण्डव वनवास-काल में द्रौपदी के साथ जीवन की ज्वाला से क्रीड़ाएँ करते हैं। महान् पौराणिक संस्कृति में अव्यावहारिक और अमनोवैज्ञानिक अविवाह-वाद और कौमारव्रत को कोई स्थान नहीं प्रदान किया गया क्योंकि इससे भ्रष्टाचार और पाखंड की वृद्धि होती है। महान् पौराणिक संस्कृति में पलायन को कोई स्थान नहीं प्रदान किया गया क्योंकि इससे कुंठा, विकृति और संत्रास को प्रश्रय प्राप्त होता है। पौराणिक संस्कृति में वैदिक संस्कृति को पूर्ण विकास प्राप्त होता है—वही देवी-देवता, वही धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष अथवा पुरुषार्थ, वही ज्ञान-योग-भक्ति-कर्म, वही वर्णाश्रम, किन्तु परवर्ती जीवन-विकास, चिन्तन-विकास, दर्शन-विकास की सम्पन्नता भी। तुलसीदास पुराणवादी हैं : "नानापुराणनिगमागम-सम्मत' की शब्दावली पुराण को वरीयता प्रदान करने में एकदम स्पष्ट है ! वे जीवनवादी हैं और पुराणवाद जीवनवाद से ओतप्रोत हैं। किन्तु वे पिष्टपेषण और चर्वितचर्वण में विश्वास न रखते थे। उन्होंने पुराणवाद में मर्यादावाद और

सर्वरसवाद का समन्वय किया। यही कारण है कि रामचरितमानस में पुराण की धार्मिकता और महाकाव्य के रस का मनोहारी समन्वय हुआ है। ऐसी द्विविध सम्पन्नता न किसी पुराण में प्राप्त होती है, न किसी महाकाव्य में। एक कृतज्ञ उत्तराधिकारी के रूप में वे पद-पद पर व्यास, शुकदेव, सनक-सनंदन-सनातन-सनत्कुमार चतुर्बन्धु (सनकादि), नारद प्रभृति अग्रजन्मनाओं का उल्लेख करते चलते हैं। उनके कारण भी अनेकानेक पौराणिक संदर्भ और कथानक जीवन में व्याप्त रहे हैं।

तुलसीदास मध्यकालीन महामानव और महाकवि थे। अधिकतर प्रचलित और अधिक संगत मान्यता के अनुसार, उनका जन्म श्रावण शुक्ल ७, संवत् १५८९ विक्रमी (१५३२ ई०) को हुआ था और निधन श्रावण कृष्ण ३, संवत् १६८० विक्रमी (१६२३ ई०) को। राजनैतिक दृष्टि से उनका जीवन हुमायूँ, शेरशाह, इस्लामशाह (सलीमशाह), अकबर और जहाँगीर के शासनकालों में व्यतीत हुआ था। इस समय तक भारत पर इस्लाम का पर्याप्त प्रभाव पड़ चुका था। ७१२ ई० में मोहम्मद बिन-क़ासिम की सिंध-विजय से आरंभ, १००० ई० के आसपास महमूद ग़ज़नवी के सत्रह आक्रमणों से संबलित, ११९२ ई० में मोहम्मद ग़ोरी (शहाबुद्दीन ग़ोरी या मुईज़्ज़ुद्दीन साम) के दिल्ली-आधिपत्य से पुष्ट इस्लामी वर्चस्व ग़ुलाम, खिलजी, तुग़लक़, सैयद और लोदी वंशों से विकसित होता सूरी वंश के अंतराल के साथ मुग़ल-वंश में ऐश्वर्य प्राप्त कर रहा था। इस्लाम एक महान् मज़हब है। ईसाई मज़हब और बौद्ध तथा हिन्दू धर्मों के साथ विश्व की अग्रणी आस्था। अन्य मज़हबों और धर्मों के प्रति हिंस्र घृणा के कारण इस्लाम ने इतिहास को सर्वाधिक रक्तरंजित किया है। देवालय-ध्वंस एवं मूर्ति-खंडन के कारण इस्लाम ने कोटि-कोटि हृदयों को पीड़ित किया है। किन्तु इसके कारण समता और सरलता को बल भी मिला है। बौद्ध-धर्म, जैन-धर्म और ईसाई मज़हब की तरह इस्लाम अव्यावहारिक अहिंसावादी और अमनोवैज्ञानिक ब्रह्मचर्य-वादी नहीं है। पुरुषार्थ-प्रतिपादन और सारल्य में हिन्दूधर्म के पर्याप्त निकट है। अमीर खुसरो ने 'नुह सिपहर' में हिन्दूधर्म-इस्लाम की निकटता पर प्रकाश डाला है। भारत में इस्लाम हिन्दूधर्म और हिन्दूधर्म इस्लाम से पर्याप्त प्रभावित हुए। भारत से बाहर भी हिन्दूधर्म के सर्ववाद अथवा अद्वैतवाद का प्रभाव पड़ ही चुका था। सूफ़ी दर्शन पर अद्वैतवाद का प्रभाव एक प्रायः सर्वस्वीकृत तथ्य है, जिसे शॉपेनहॉएर जैसे विश्वविश्रुत दार्शनिक तक स्वीकार कर चुके हैं। समन्वयवादी और उदारतावादी तुलसीदास पर इस्लाम की समता और सरलता का ज्ञात अथवा अर्द्धज्ञात अथवा अज्ञात प्रभाव अवश्य पड़ा होगा। वे फ़ारसी जानते थे, जैसाकि उनके द्वारा लिखित एवं अद्यावधि उपलब्ध न्याय-निर्णण स्पष्ट करता है। वे रहीम के मित्र थे, जैसाकि बरवै-रामायण और "गोद लिए हुलसी फिरै तुलसी-सो

सुत होय" की कथाओं से स्पष्ट है। तुलसी ने "आभीर, यवन, किरात, खस" इत्यादि सब को अपने भक्तिपथ में समाविष्ट किया है। उन्होंने "सूधो मन, सूधो बचन, सूधी सब करतूति" का प्रतिपादन किया है। स्पष्ट है कि उनकी सूक्ष्म और सारग्रहिणी मनीषा ने समसामयिक समतावाद-सरलतावाद को भी आत्मसात् किया था। हाँ, सुशिक्षित और विद्वान् होने के कारण उन्होंने पंडितों और मौलवियों को ललकारने की विवशता का कोई अनुभव नहीं किया था। इस दिशा में वे सर्वथा अंकुठित थे, जैसाकि उनकी अतुलनीय विनम्रता से ही स्पष्ट है। उनके साहित्य में "ना—नारद तब रोइ पुकारा। एक जोलाहे सौं मैं हारा।"[१] —जैसी अध्ययनशून्य और उद्वेगजनक, निराधार और मूर्खतापूर्ण उक्ति भी नहीं प्राप्त होती क्योंकि वे "सो वड़ पंथ मोहम्मद केरा" के सदृश धर्मों में छोटाई-बड़ाई का आपत्तिजनक उद्घोष नहीं करते। निरक्षर होने के कारण कबीर ने वेद, पुराण, कुरान, शिक्षा, सबकी व्यर्थपरिणामी निन्दा की है। स्वयं मुसलमान होने के कारण कबीर ने मोहम्मद की आलोचना कहीं नहीं की, यद्यपि राम, कृष्ण, देवी-देवता, तीर्थ-नदी इत्यादि सबसे टंगड़ी फँसाने में वे कभी नहीं चूके। 'जपजी' (जपजी साहब) में नानक ने करोड़ों कृष्णों और करोड़ों बुद्धों के लिए भी अगम ब्रह्म की जो चर्चा की है वह कृष्णोपासकों और बौद्धों को अप्रिय लग सकती है। जायसी की उदारता तो सर्वथा विवादास्पद है ही, भले ही आचार्य शुक्ल अपनी व्यक्तिगत उमंग में उनकी अत्यधिक प्रशंसा कर गए हों। तुलसी के साहित्य में धर्मग्रंथ-निन्दा, पुण्य-सीमांकन, स्वधर्माहंकार प्रभृति दोष नहीं दृग्गत होते। इसीलिए, उनका प्रभाव अपरिणेय है। वे कृष्ण के 'वाङ्मयतप' अथवा "सम्यक् वाक्" के निकष पर भी अधिकतर खरे ही उतरते हैं :

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रिय हितं च यत् ।
स्वाध्यायभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्चते ।।[२]

तुलसी ने अपने समय तक की समग्र विराट् भारतीय संस्कृति को आत्मसात् तो किया ही था, भविष्य के लिए उसके विशद रूप का अंकन और आकलन भी किया था। इसीलिए, वे व्यास और शंकराचार्य के स्तर के संस्कृति-समुन्नायक भी माने जाते हैं। उनकी समन्वय-साधना उद्वेगरहित और उदार है, पूर्वाग्रहग्रस्त और ग्रंथियुक्त नहीं। भारतीय संस्कृति के धर्म, दर्शन, काव्य-कला इत्यादि नाना तत्त्वों के उन्नायक के रूप में तो तुलसी का स्थान इतिहास में अप्रतिम ही है। धर्म में उन्होंने वैष्णव, शैव, शाक्त, बौद्ध इत्यादि नाना तत्त्वों का उपयोगी समन्वय किया है। वे गणेश, शिव, ब्रह्मा, सूर्य, हनुमान्, सरस्वती, गंगा इत्यादि सभी की

१. जायसी-ग्रंथावली, अखरावट ४२/१
२. श्रीमद्भगवद्गीता १७/१५

स्तुति करते हैं। वे राम, सीता, कृष्ण, बुद्ध इत्यादि सभी की स्तुति करते हैं और संपूर्ण भावना के साथ करते हैं। यदि उन्होंने रामचरितमानस, विनयपत्रिका, कवितावली, गीतावली, दोहावली, जानकीमंगल, बरवै-रामायण, रामाज्ञा-प्रश्न और रामललानहछू में अपने आराध्यदेव राम पर सर्जना की है, तो पार्वतीमंगल में शिव पर भी, श्रीकृष्णगीतावली में कृष्ण पर भी। वैराग्य-संदीपिनी में उन्होंने निर्वेदकाव्य की सर्जना भी की है। उन्हें समग्र ग्राह्य स्वीकार है, समग्र अग्राह्य अस्वीकार और वे अपनी स्वीकृति-अस्वीकृति को साहसपूर्वक व्यक्त भी करते हैं। उनमें कुठाजन्य आक्रोश नहीं प्राप्त होता। यही कारण है कि चाहे निवृत्ति-वादी हों या प्रवृत्तिवादी, वैष्णव या शैव, शाक्त या बौद्ध, ज्ञानी या भक्त, योगी या प्रेमी, सभी उनके 'वाङ्मयतप' से प्रभावित और आनंदित होते हैं। ऐसी विराट् धर्मसाधना अन्यत्र दुर्लभ है। दर्शन के क्षेत्र में उन्होंने अद्वैतवाद एवं विशिष्टा-द्वैतवाद इत्यादि का ऐसा विशद् समन्वय प्रस्तुत किया है कि सर्वश्री मिश्रबंधु, विजयानंद त्रिपाठी, नगेन्द्रनाथ वसु, गिरिधर शर्मा, परशुराम चतुर्वेदी इत्यादि उन्हें अद्वैतवादी मानते हैं, सर्वश्री जयरामदास, वियोगीहरि, श्यामसुंदरदास, पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, श्रीकांतशरण इत्यादि विशिष्टा-द्वैतवादी, सर्वश्री काष्ठजिह्वा स्वामी, केशवप्रसाद मिश्र, राजपति दीक्षित इत्यादि द्वैतवादी, तो आचार्य रामचंद्र शुक्ल, डॉ० बलदेवप्रसाद मिश्र इत्यादि सिद्धांततः अद्वैतवादी और व्यवहारतः द्वैतवादी। तत्त्वतः तुलसीदास जीवनवादी हैं और जीवनवाद अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद और द्वैतवाद में यथासमय और यथास्थिति संगति बैठाता रहता है। उपनिषद् और रामचरितमानस जैसे विश्वस्तरीय आर्षग्रंथों में समग्र वादों की प्रतीति यह स्पष्ट कर देती है कि विराटता समग्र को समाहित कर सकती है। भक्ति में ज्ञान, योग और कर्म का समाहार करना भारतीय दर्शन को तुलसी की सबसे बड़ी देन है। निर्गुण-सगुण, निराकार-साकार, ज्ञान-भक्ति, योग-प्रेम इत्यादि का समन्वित जीवन-दर्शन प्रस्तुत कर तुलसी ने भारतीय संस्कृति के आयाम अत्यधिक स्फीत कर दिए हैं। इसीलिए, करोड़ों व्यक्तियों के लिए तुलसी-दर्शन भारतीय दर्शन का पर्यायवाची बन गया है। ग्रीअर्सन, कार्पेन्टर ग्रीव्ज़, वारन्निकोव, एट्किन्स इत्यादि ने उनकी लोकप्रियता और गरिमा की जो स्तुति की है, वह नितांत साधार है। कार्पेन्टर, बलदेवप्रसाद मिश्र, रामदत्त भारद्वाज, उदयभानुसिंह इत्यादि ने उनके दर्शन पर प्रशस्य प्रकाश डाला है। तुलसी हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ दर्शन-कवि भी हैं।

काव्य की दृष्टि से तुलसी मानव-जाति के समग्र इतिहास की एक महत्तम विभूति हैं। उनकी समता के कवि केवलमात्र वाल्मीकि, व्यास, कालिदास तथा होमर, दांते, शेक्सपीअर तथा फ़िरदौसी हैं। कविता संस्कृति की रसना है। संस्कृति की आत्मा कविता में ही व्यक्त होती है। तुलसी ने शौर्य, तेज, ओज, तप

इत्यादि प्रधानतः वैदिक तत्त्वों, अहिंसा, क्षमा, दया, निर्वाण इत्यादि प्रधानतः बौद्धतत्त्वों, कथा, रोचकता, चमत्कार, आशावाद इत्यादि प्रधानतः पौराणिक तत्त्वों, समता, सरलता, उदारता, समन्वय इत्यादि प्रधानतः मध्यकालीन तत्त्वों के विपुल समाहार को अधिकतम माध्यमों (संस्कृत, ब्रज, अवधी इत्यादि) से, अधिकतम छंदों (चौपाई, दोहा, हरिगीतिका, तोटक, नाराच, कवित्त, सवैया, छप्पय, बरवै, सोरह इत्यादि) और रागों (आसावरी, भैरवी, नट, सोरठ, सूहो, नटभैरव इत्यादि) द्वारा, सर्वरसनिष्पत्ति के साथ, ऐसी विलक्षणता से अभिव्यक्ति प्रदान की है कि "न भूतो न भविष्यति" लोकोक्ति का स्मरण अनायास ही आने लगता है। जहाँ तक काव्यात्मा रस का संबंध है, तुलसी का निष्पत्ति-सामर्थ्य, व्यास, होमर और फ़िरदौसी के साथ-साथ, संसार-साहित्य में अतुलनीय है—वस्तुतः वात्सल्य और हास्य रसों की निष्पत्ति में व्यास, होमर और फ़िरदौसी ने गहरी रुचि नहीं दिखाई, जबकि तुलसी ने दिखाई है। ऋग्वेद में रस शब्द अपने सारे अर्थों के साथ विद्यमान है। काणे, केलकर इत्यादि विद्वान् इस तथ्य को स्पष्ट कर चुके हैं।[1] नाट्यशास्त्र में रस की व्यापक मीमांसा प्राप्त होती है, जिसका विकास आधुनिककाल तक होता आ रहा है। तुलसी ने सर्वरस-निष्पत्ति का अप्रतिम साफल्य रामचरितमानस और कवितावली में वैदग्ध्यपूर्वक प्रदर्शित किया है। जहाँ तक भक्तिरस का संबंध है, तुलसी उसके विश्वविश्रुत सीमांत हैं ही—गांधी हों या एट्किन्स, सभी ने रामचरितमानस को भक्तिमार्ग का सर्वोत्तम ग्रंथ माना है। तुलसी की अन्य कृतियाँ भी भक्तिरस से सराबोर हैं। विनयपत्रिका को भक्ति का उपनिषद् कहा जा सकता है, जिसमें दास्य-भक्ति और अद्वैतवाद का अद्वितीय समन्वय प्राप्त होता है। भक्ति के दास्य, सख्य, शृंगार, वात्सल्य एवं शांत समग्र भाव तुलसी के सृजन में विद्यमान हैं। दास्यभाव के तो वे सीमांत ही हैं।

रस भारतीय संस्कृति का एक अविच्छिन्न अंग है। वह हमारी संस्कृति के शरीर का प्राणतत्त्व है। तुलसी ने उसके नाना रूपों का प्रशस्य उन्नयन किया है। शास्त्रीय रसनिष्पत्ति की दृष्टि से तुलसी की सफलता अतुलनीय कही जा सकती है क्योंकि उनकी मान्य द्वादश कृतियाँ इससे ऊभचूभ हैं। कविता के भाषा, छंद, अलंकार इत्यादि अन्य तत्त्वों की दृष्टि से भी उनका स्थान अद्वितीय है। विश्व के किसी भी महानतम कवि ने इतने अधिक माध्यमों, भाषाओं, छंदों, रागों और अलंकारों का प्रयोग नहीं किया जितने अधिक का तुलसी ने; और आश्चर्य यह है कि वे कहीं भी कृत्रिम या नीरस नहीं हैं!

---

१. डॉ० नगेन्द्र ने 'रस-सिद्धान्त' में एतद्विषयक सूत्रों को भलीभाँति उद्धृत किया है।

तुलसी की कविता जीवनरस से सराबोर है। उसमें स्थापत्य या शिल्प, मूर्ति, चित्र, संगीत, नृत्य इत्यादि ललित-कलाओं की मनोहारी झाँकियाँ यत्र-तत्र-सर्वत्र दृग्गत होती हैं। कहीं मणिजटित अजिर और स्तम्भ चित्रित हैं, कहीं ऐश्वर्य-शाली सौध के स्वर्णसिंहासन पर नरेश चित्रित हैं, कहीं अजेय दुर्ग चित्रित हैं। प्राचीन से समसामयिक शिल्प तक का समावेश उनके कृतित्व की एक उल्लेख्य उपलब्धि है। जहाँ तक चित्रकला का संबंध है, मानस, गीतावली और कविता-वली में राम के शत-शत चित्र उरेहे गए हैं: शैशव, बाल्य, कैशोर्य, तारुण्य, यौवन की अमित-अपार राम-मुद्राएँ शब्दों में अंकित हैं। प्रासाद, वनपथ, समरसभूमि, सिंहासन, सर्वत्र राम के शत-शत बिम्बालेखन तुलसी को अद्वितीय शब्दचित्रकार प्रमाणित कर सकते हैं। 'तुलसी के शब्दचित्र' शोध के विषय हैं। क्या आश्चर्य यदि उनकी शब्दचित्ररचना पर शत-शत रंगचित्र बने हैं, रामलीला के पात्रों का प्रस्तुतीकरण हुआ है, मानस-मंदिर बना है! आधुनिक रामलीला के प्राणतत्त्व तुलसी ही हैं। एक विशाल अंतराल के अनंतर, तुलसी ने भारत की आत्मा काशी में रामलीला का शुभारंभ किया। उन्होंने काशी में ही कृष्णलीला भी चलाई थी। ये ऐतिहासिक सत्य अब प्राय: सर्वविज्ञात हैं। राम और कृष्ण भारत के नेत्र हैं। तुलसी और सूर भारती के नेत्र हैं। संगीत काव्य का सनातन सखा रहा है। कभी काव्य ने संगीत को विकसित-विवर्द्धित किया है, कभी संगीत ने काव्य को। संगीत एक महान् ललितकला है। तुलसी महान् संगीत-प्रेमी हैं—अपने बहुविध संगीतसम्पन्न सृजन में ही नहीं अपितु अपने स्फीत वर्ण्य में स्थान-स्थान पर नर-नारियों के गाने-गवाने में भी। जिस महान् और शाश्वत संस्कृति में संगीत के स्रष्टा भूतभावन भगवान् शिव हैं, उसकी अधिष्ठात्री भगवती सरस्वती हैं, उसके समादरकर्ता देवर्षि नारद हैं, उसके प्रतिनिधि एवं प्रतीक महाकवि का संगीतप्रेमी होना स्वाभाविक ही है! नृत्य एक महान् कला है, जिससे शरीर को व्यायाम, प्राण को ऊर्जा और आत्मा को आनंद प्राप्त होता है। भारत में नृत्य मानवीय भावों को अभिव्यक्त करनेवाली एक महान् ललित-कला रहा है, जिसका आध्यात्मिक महत्त्व अपार रहा है, जिसके आविष्कर्ता कलानिधान शिव हैं। तुलसी ने नृत्य के अनेक उल्लेख किए हैं—क्रीड़ा में, उत्सव में, उत्साह में। समग्र ललितकलाओं में तुलसी की गहन अभिरुचि कला की एकता की प्रभावी प्रतीक कही जा सकती है। कालिदास और शेक्स्पीअर के अतिरिक्त, ऐसी स्फीत ललितकला-अभिरुचि संसार-साहित्य में दुर्लभ है। 'तुलसी-काव्य में ललितकलाएँ' अथवा 'तुलसी का ललितकला-बोध' ग्रंथ का विषय है।

धर्म, दर्शन, साहित्य, संगीत और नृत्य संस्कृति के पंचतत्त्व हैं। तुलसी ने इन समग्र तत्त्वों का चित्रण और उन्नयन करके एक पूर्ण सांस्कृतिक महाकवि का

गौरव प्राप्त किया है। संसार के किस महाकवि ने संस्कृति का इतना समग्र और इतना पूर्ण आकलन और अंकन किया है? इस प्रश्न का उत्तर अत्यंत कठिन है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर[1] का नाम स्मरण में आता है—वे एक साथ ही कवि, नाट्यकार, उपन्यासकार, कहानीकार, रेखाचित्रकार, संस्मरणकार, आत्मकथाकार, आलोचक, चिन्तक, चित्रकार, संगीतकार, पर्यटक, संस्कृति-दूत, दार्शनिक और युगगुरु हैं, किन्तु उनकी प्रतिभा सुकुमार और अभिजातवर्गबद्ध है, जिसका प्रभाव भी ससीम रहा है। कवि रवीन्द्र का स्तर वर्ड्स्वर्थ, शेली (शेले) या प्रसाद का है, वाल्मीकि या व्यास या होमर का नहीं, फ़िरदौसी या दांते या तुलसीदास का नहीं, कालिदास या शेक्सपीअर या गेटे का नहीं! विराट् और अनंत जनप्रभाव की दृष्टि से भी रवीन्द्र तुलसी की समता नहीं कर सकते। गांधी के मित्र और नेहरू के पूज्य होने के कारण रवीन्द्र को आदर अधिक मिला है, अध्ययन अल्प। बंगाल के प्रांतवाद के कारण भी वे स्मारकों के कवि अधिक हो गए हैं, स्मृति के अल्प। अंग्रेजी के प्रख्यात विद्वान् डॉ० शिशिरकुमार घोष ने रवीन्द्र-पूजा की आलोचना की है।

महान् सांस्कृतिक कवि स्वीकारवादी अधिक होता है, अस्वीकारवादी कम या नहीं। तुलसी ने बुद्ध की वेदनिन्दा की समीक्षा की है, गोरखनाथ के योग-प्रचार के कारण भक्तिप्रसार में व्यवधान की चर्चा की है। उन्होंने इन दो महापुरुषों का नामोल्लेख किया है, क्योंकि इनकी जीवनसाधना को वे इसके योग्य समझते थे। बिना पढ़े-लिखे, बिना सत्संग किए, कुंठामूलक अहंकार से ग्रस्त होने के कारण वेद-पुराण-कुरान इत्यादि महत्तम ग्रंथों की निराधार आलोचना करने वाले, अनावश्यक और अशोभनीय रूप से पंडितों और मुल्ला-मौलवियों को ललकारनेवाले एवं शिक्षा जैसी मानवता की एक प्रतीक-विभूति की अतीव विगर्हणीय और अनुत्तरदायित्वपूर्ण निन्दा करनेवाले ध्वंसमूर्ति कबीर इत्यादि तथाकथित निर्गुणियों तथा कल्पित प्रेमकथाओं के माध्यम से वेद-शास्त्र, ऋषि-मुनि इत्यादि की अवहेलना करते हुए "चितउर या इसलाम" और "सो बड़ पंथ मोहम्मद केरा" का प्रचार करनेवाले हिन्दू-धर्म के प्रच्छन्न शत्रु जायसी इत्यादि सूफ़ियों को उन्होंने संपूर्ण उपेक्षा का न्याय ही प्रदान किया है। तुलसी ने कहीं और कभी किसी धर्म की आलोचना नहीं की। उनकी सारग्राहिणी प्रतिभा ने यत्र-तत्र-सर्वत्र सिंहावलोकन करते हुए अनुभव का लाभ प्राप्त किया है। किन्तु केवल स्वपूजामूलक अहंतोष के कारण वेद, शास्त्र, पुराण, कुरान, ऋषि, मुनि, मुल्ला, मौलवी इत्यादि की सर्वग्रासी आलोचना करनेवालों या कल्पित कथाओं

---

१. देखें 'रवीन्द्रनाथ टैगोर : हिज़ लाइफ़ ऐंड वर्क', लेखक एडवर्ड जे० ट्रॉम्पसन और डॉ० कालिदास नाग।

की आड़ में भारत की सनातन संस्कृति को विकृत करने का कुटिलतापूर्ण यत्न करनेवालों का प्रत्याख्यान उन्होंने खुलकर किया है, भले ही शालीनतावश अथवा उपेक्षावश नामोल्लेख न किया हो। सूफ़ी कवियों ने कथानक भारतीय लिए किन्तु उनका विस्तृत मंगलाचरण ईरानी था, जिसमें अल्लाह और मोहम्मद इत्यादि की स्तुति ही नहीं होती अपितु यत्र-तत्र मोहम्मद को न पूजनेवालों का नरक-स्थान भी सुनिश्चित सिद्ध किया जाता है। मुईनुद्दीन चिश्ती हों या निज़ामुद्दीन औलिया, जायसी हों या नूर मोहम्मद प्रायः सारे सूफ़ी फ़क़ीरों और कवियों का उद्देश्य इस्लाम की उन्नति रहा है। सालार मसऊद ग़ाज़ी जैसे विदेशी आक्रांता तक को फ़क़ीर बनाकर पुजवानेवाले इस्लामी षड्यंत्र से सूफ़ी फ़क़ीरों और कवियों को मुक्त करना सत्य की अवहेलना करना होगा। दासता के संस्कारों के कारण सूफ़ी फ़क़ीरों और कवियों की स्तुति एक रूढ़ि बन गई है, जिसे अब मताधिकोषवादी राजनीति की छत्रछाया भी प्राप्त हो गई है। किन्तु सत्य का उद्घाटन आलोचक का सर्वोपरि दायित्व है। यदि तुलसी न होते, तो विशाल हिन्दी-क्षेत्र की कोटि-कोटि जनता अनेक पंथों में विभक्त हो जाती और भारतीय संस्कृति तथा हिन्दू-धर्म की अपरिसीम क्षति होती। उनके कारण राष्ट्र के विराट् हृदय-भाग में पैग़म्बरवाद अथवा पंथवाद नहीं पनप सका। भारत में पंजाब की स्थिति तुलसी को भविष्यद्रष्टा सिद्ध करती है। इसीलिए वे एक महान् धर्मरक्षक और राष्ट्रनायक माने जाते हैं। तुलसी राष्ट्रीय एकता के वाहक एवं प्रतीक हैं। असम के महापुरुष शंकरदेव, बंगाल के महाप्रभु चैतन्य देव, महाराष्ट्र के समर्थ गुरु रामदास, दक्षिण के संगीत-सम्राट् त्यागराज इत्यादि ऐसे कुछ अन्य प्रतीक हैं। महाराष्ट्र के विद्वानों ने रामदास एवं दाक्षिणात्य विद्वानों ने त्यागराज पर तुलसी का प्रभाव वर्णित-विवेचित कर इस दिशा में स्तुत्य कार्य किया है।

संभवतः रामानुजाचार्य के श्री संप्रदाय से संबद्ध स्मार्त वैष्णव होते हुए भी तुलसी रूढ़िवादी न थे प्रत्युत अपनी गुरु-परंपरा के आचार्य रामानंद के सदृश अतीव उदार थे। वे भक्तिपथ पर नारी, शूद्र, यवन इत्यादि सबको समान यात्री मानने के प्रतिपादक थे। उनकी विनम्रता सबके समक्ष नत थी। युग-प्रभाववश उन्होंने यत्र-तत्र नारी-निन्दा की है, किन्तु वह कबीर की स्फीत एवं अश्लील नारी-निन्दा के समक्ष नगण्य है। नारी-निन्दा मध्यकाल की एक व्यापक दुष्प्रवृत्ति रही है। कबीर, जायसी, मंझन, सूर, तुलसी सभी के कृतित्व में इसके अल्पाधिक दर्शन किए जा सकते हैं। मीराँ (मीरा) इत्यादि नारियों में भी इसका प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रभाव देखा जा सकता है। जहाँ तक तुलसी की शूद्र निन्दा का प्रश्न है, वह उनकी ब्राह्मणनिन्दा की तुलना में अत्यंत अल्प है और वस्तुतः उसका उद्देश्य कर्महीन अहंवाद का प्रत्याख्यान है। तुलसी की नारीनिन्दा और शूद्र-

निन्दा पर साहित्य और इतिहास के अध्ययन से शून्य कतिपय व्यक्ति जो तिल का ताड़ बनाते रहते हैं, वह राजनीति-प्रेरित या न्यस्तस्वार्थग्रस्त होने के कारण उपेक्षणीय है। तुलसी मानव को खंडित करके देखना नहीं चाहते थे। वे मानव के अखंड रूप के प्रतिपादक थे। उनकी सर्ववंदना और उनका सर्वहित-प्रतिपादन इसके अकाट्य प्रमाण हैं। वे सनातन संस्कृति को उच्छिन्न होने देना नहीं चाहते थे, किन्तु उसे गतिशील, विकासशील और समन्वयशील रूप प्रदान करना अवश्यमेव चाहते थे। इस दृष्टि से, उनका नेतृत्व-सामर्थ्य गंभीर, तलस्पर्शी और प्रभावी था; और है। उनके स्तर और गौरव का नेता वर्तमान सहस्राब्दि में कोई नहीं हुआ।

तुलसी सार्वभौम संस्कृति के व्याख्याता, विश्लेषक और प्रतिपादक हैं। उनकी जीवनदृष्टि और काव्यसृष्टि सबके लिए है, किसी वर्ग-विशेष के लिए नहीं। उन्होंने योगियों, यतियों और विद्वानों के लिए विनयपत्रिका का प्रणयन किया है, तो काव्यरसिकों के लिए कवितावली का, गानविशारदों के लिए गीतावली का, नीतिमार्गियों के लिए दोहावली का, चमत्कारप्रेमियों के लिए बरवै-रामायण का, विरक्तों के लिए वैराग्य-संदीपिनी का, शकुनोत्सुकों के लिए रामाज्ञा-प्रश्न का, उत्सव-प्रेमियों के लिए जानकीमंगल और पार्वतीमंगल का, सख्यभावुकों के लिए श्रीकृष्णगीतावली का, संस्कारमयी नारियों के लिए रामललानहछू का, तो प्रत्येक व्यक्ति के लिए रामचरितमानस का। उनका विशद् सृजन समग्र जीवन के लिए है, समग्र जनता के लिए है। ऐसा सृजन संस्कृति की पूरी पकड़ के बिना संभव नहीं हो सकता।

संस्कृति संस्कारमूलक तत्त्व है। वह संस्कार से निर्मित भी होती है, उसका परिष्कार भी करती है। तुलसी उदात्त मानवीय संस्कारों और विचारों के अद्वितीय चितेरे और प्रसाद हैं। त्याग, प्रेम, नम्रता, दया, वीरता, बलिदान, तप, परोपकार इत्यादि सद्गुणों का प्रतिपादन उनके सृजन का एक प्रधान प्रेरकतत्त्व है। राम मानवीय मूल्यों की दृष्टि से महतोमहीयान् हैं भी। यही कारण है कि राम और रामकथा पर वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, भवभूति, विमल सूरि, स्वयंभू, कम्बन् (कम्बर), एडुत्तच्छन्, रंगनाथ, कुमारवाल्मीकि, कृत्तिवास, माधव कंदलि (जिनकी अपरसमाप्ति असमिया-रामायण को महापुरुष शंकरदेव एवं महाकवि माधवदेव ने पूर्ण किया), बलरामदास, गिरिधर, एकनाथ, तुलसी, केशव, हरिऔध, मैथिलीशरण, वल्लत्तोल, सत्यनारायण (तेलुगू-महाकवि), पुट्टप्पा इत्यादि अजर-अमर स्रष्टा अजर-अमर महाकाव्य या महानाटक रच सके हैं। चीनी, जापानी (दो), थाई, कम्पूच्याई, बर्मी, मलेशियाई, एंडोनेशियाई, सिंहली इत्यादि रामायणें राम को बौद्धों और मुसलमान भाइयों का भी पूज्यपुरुष सिद्ध करती हैं। और-तो-और, मिस्री रामकथा तक

उपलब्ध है ! राम विश्वपुरुष हैं। किन्तु राम और रामकथा के माध्यम से जिस अप्रतिम लोकमंगल और मर्यादावाद की प्रतिष्ठा तुलसी कर सके हैं, वह अन्य कोई नहीं। व्यक्ति-व्यक्ति, राजा-प्रजा, गुरु-शिष्य, स्वामी-सेवक, पिता-पुत्र, पति-पत्नी, मित्र-शत्रु इत्यादि के पारस्परिक व्यवहार का जो आदर्श तुलसी प्रस्तुत करते हैं, वह अतीव प्रेरक और उपयोगी है। रामचरितमानस, विनय-पत्रिका, कवितावली इत्यादि में वेदसम्मत-लोकसम्मत व्यवहार के जो मानदंड प्राप्त होते हैं, वे प्राणस्फूर्तिकारी और पावनतम हैं। उन्होंने "रामायन अनुहरत सिख जग भयो भारत रीति" (दोहावली) कहकर मनुस्मृति में व्यक्त इस अमर उद्गार को एक अकाट्य उदाहरण प्रदान किया है :

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वंस्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

विकृति का बहिष्कार और प्रवृत्ति का परिष्कार ही संस्कृति है। कैकेयी में विकृति आ गई है, दशरथ प्रवृत्ति से किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहे हैं, किन्तु राम संस्कृति का परिचय देते हैं :

मन मुसुकाइ भानुकुलभानू। राम सकल आनन्द निधानू॥
बोले बचन बिगत सब दूषन। मृदु मंजुल जनु बाग बिभूषन॥
सुनु जननी सोइ सुत बड़भागी। जो पितुमातु बचन अनुरागी॥
तनय मातुपितु-तोषनिहारा। दुर्लभ जननि सकल संसारा॥
मुनिगन मिलन बिसेषि बन, सबहि भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि, संमत जननी तोर॥
भरत प्रानप्रिय पावहिं राजू। बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू॥
जौं न जाउँ बन ऐसे काजा। प्रथम गनिअ मोहि मूढ़ समाजा॥[1]

दाम्पत्य जीवन सामाजिक जीवन का मेरुदंड है। समग्र मानव-संस्कृति किसी-न-किसी रूप में उसी पर केन्द्रित है। कोरी शारीरिकता विकृति है, शारीरिकता प्रवृत्ति है, समर्पण संस्कृति है। तुलसी ने विषम परिस्थितियों में दाम्पत्य जीवन के प्रशांत-गहन पारस्परिक समर्पण के प्राणपुलककारी चित्र अंकित किए हैं :

जल को गए लक्खन, हैं लरिका, परखौ पिय! छाँह घरीक ह्वै ठाढ़े।
पोंछि पसेउ बयारि करौं अरु पाँय पखारिहौं भूभुरि डाढ़े॥
तुलसी रघुबीर प्रिया स्रमु जानिकै बैठि बिलंब लौं कंटक काढ़े।
जानकी नाह को नेह लख्यो, पुलको तनु, बारि बिलोचन बाढ़े॥[2]

प्रेम मानवता का प्राण है। विरह में प्रेम शारीरिकता से ऊपर उठता हुआ

---

१. रामचरितमानस २/४०/५-८, ४१, १-२
२. कवितावली २/१२

आध्यात्मिकता से संयुक्त हो जाता है। विरह प्रेम का निकष है। विरह में प्रेम की सुदृढ़ता की परख होती है, उसकी शालीनता की परख होती है। विरहव्यथा में मांसल मुखरता विकृति है, वेदना की सहज अभिव्यक्ति प्रवृत्ति है, शालीन मौन संस्कृति है :

> भूषन बसन बिलोकत सिय के।
> प्रेमबिबस मन, कंप-पुलक तनु, नीरज नयन नीर भरे पिय के।।
> सकुचत कहत, समुझि उर उमगत, सील, सनेह, सुगुनगन तिय के।।[1]

स्वार्थातिरेक विकृति है, स्वार्थ प्रवृत्ति है, संयम संस्कृति है। तुलसी ने अपने पात्रों के लिए ही नहीं प्रत्युत अपने लिए भी संस्कृति के मानदंड निर्धारित किए हैं। ये मानदंड कृति और प्रकृति से विलक्षण और विशिष्ट होने के कारण ही संस्कृति में अंतर्भूत होते हैं। संस्कृति कृति को सम्यक् स्वरूप प्रदान करती है, प्रकृति अथवा प्रवृत्ति को संस्कार-गौरव से जाज्वल्यमान् करती है, विकृति का परिहार करती है :

> कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
> श्री रघुनाथ कृपालु कृपा तें संत सुभाव गहौंगो।।
> यथालाभसंतोष सदा काहू सों कछु न चहौंगो।
> परहितनिरत निरंतर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो।।
> परुष बचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
> बिगत मान, सम सीतल मन, परगुन नहिं दोष कहौंगो।।
> परिहरि देहजनित चिन्ता, दुख-सुख समबुद्धि सहौंगो।
> तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि अबिचल हरिभक्ति लहौंगो।।[2]

उपनिषद्, गीता एवं नीति-स्मृति-ग्रन्थ उक्त जीवनस्थिति का ही प्रतिपादन करते हैं। उक्त स्थिति में विकृति का समग्र निषेध है, प्रकृति अथवा प्रवृत्ति का पूर्ण उदात्तीकरण है, संस्कृति का ईप्सित मानदंड-निर्धारण है। यह स्थिति मनुज को मानवता से सम्पन्न करती है। यह स्थिति सदैव तत्त्वतः प्रशस्य ही मानी जाएगी, भले ही प्रत्यक्षतः कठिन और बाह्यतः अलाभकर हो।

किन्तु इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि तुलसी जीवन को उसके सहज सुख और उल्लास से वंचित रखकर केवल लोकोत्तर आनन्द मात्र में आबद्ध रखना चाहते हैं। यथासमय सुख, यथासमय उल्लास और यथासमय आनन्द ही जीवन को परिपूर्ण और समग्र बनाते हैं। तुलसी जीवन के सुख और उल्लास-

---

१. गीतावली ४/१/१-३
२. विनयपत्रिका, १७२

पक्षों का चित्रण भी पूरी तन्मयता से करते हैं। जीवन के नाना संस्कारों, हास्य-व्यंग्य, उत्सव-उत्साह इत्यादि के जितने और जैसे वर्णन उन्होंने किए हैं, उतने और वैसे अन्य कवि ने नहीं।

संस्कार जीवन को सक्रियता और विकास प्रदान करते हैं, घटना-विशेष को गौरव से सम्पन्न कर देते हैं। इसीलिए, वे किसी-न-किसी रूप में सारे संसार में प्रचलित हैं। जन्म एक सामान्य घटना है। प्रत्येक प्राणी जन्म लेता है। किन्तु मानव ने जन्म को संस्कार-विशेष से संपृक्त कर उसे गौरवशाली रूप प्रदान कर दिया है। ठीक यही तथ्य विवाह इत्यादि पर लागू होता है। समग्र प्राणी मरण-शील हैं। किन्तु सुधी मानव ने मरण को भी संस्कार-विशेष तथा स्वर्गादि से जोड़कर गौरवशाली रूप प्रदान कर दिया है। मृत्यु के साथ व्यस्ततापूर्ण संस्कार न जुड़े होते तो शोक से संतप्तों की अपरिसीम मास्तिष्कि क्षति होती; अनेक असामयिक अवसान तक हो जाते। कुंठित अथवा विकृतिग्रस्त मस्तिष्क संस्कारों का प्रत्याख्यान कर सकता है। कुंठा, विकृति इत्यादि अपने आखेट से कौन-कौन नाच नहीं नचातीं ! सामान्य स्तर का साहित्य इन तत्त्वत: दयनीय नृत्यों की दयनीय रंगशाला ही बन गया है। व्यापक जनमानस पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ पाता, जिससे उसकी व्यर्थता सिद्ध होती है, किन्तु अहं की विरूप रति व्यर्थता में भी सार्थकता की प्रतीति करती ही रहती है। स्रष्टा-द्रष्टा कलाकार संस्कारों की वैयक्तिक और सामाजिक उपयोगिता से अभिज्ञ होने के कारण उनमें रमता है, रसता है, उनका परिस्कार करता है, उनका विकास करता है। व्यापक मनोविज्ञान और व्यापक सामाजिकता से अनभिज्ञ स्वकारावंदी कलाकार न तो संस्कारों का वर्णन कर पाता है, न विकास। तुलसी ने जन्म, विवाह इत्यादि संस्कारों के प्राणस्फूर्तकारी वर्णन रामचरितमानस, कवितावली, गीतावली जानकीमंगल, पार्वतीमंगल, रामललानहछू इत्यादि में बड़े समारोह के साथ किए हैं, जो इस तथ्य के सूचक हैं कि वे जीवन और जीवनरस, वैयक्तिक और सामाजिक मनोविज्ञान इत्यादि से पूर्णत: परिचित थे और स्वयं विरक्त होते हुए भी प्रकृति के माहात्म्य को स्वीकार करते थे। उनकी अतुलनीय लोकप्रियता का भी यह एक उल्लेख्य कारण है। जो कलाकार जीवन की उपेक्षा करता है, जीवन स्वभावत: उसकी उपेक्षा करने पर विवश हो जाता है, जिससे असीम जीवन की नहीं, ससीम कलाकार की ही क्षति संभव रहती है। उत्सव और समारोह जीवन के बाहु हैं। इनके बिना वह निष्क्रिय, निरुपाय एवं निरीह हो जाएगा—शुष्क हो जाएगा। मानव न तो ऐसा चाह सकता है, न चाहता है, न चाहेगा। यही कारण है कि कुंठित और विकृतिग्रस्त व्यक्तियों और चिन्तकों, लोकेषणाग्रस्त और अहंवादी सुधारकों और नेताओं के अनवरत प्रहारों के बावजूद मानव संस्कारों और समारोहों में रमता और रसता चला आ रहा है। ऐसे वर्णनों में

गहन रुचि लेने के कारण विश्वकवि तुलसी को जनकवि होने का भी गौरव प्राप्त हो गया है। वे आलोककवि तो हैं ही, लोककवि भी हैं। उनके विवाह-वर्णन अतीव उत्कृष्ट एवं संस्कृतिवैभवसम्पन्न हैं :

सिय सुन्दरता बरनि न जाई। लघु मति, बहुत मनोहरताई ॥
आवत दीख बरातिन्ह सीता। रूपराशि सब भाँति पुनीता ॥
सबहिं मनहिं मन किए प्रनामा। देखि राम भये पूरन कामा ॥
हरषे दसरथ सुतन्ह समेता। कहि न जाइ उर आनँदु जेता ॥
सुर प्रनामु करि बरसहिं फूला। मुनि असीसधुनि मंगलमूला ॥
गान, निसान कोलाहलु भारी। प्रेम-प्रमोद मगन नर-नारी ॥
एहि बिधि सीय मंडपहिं आई। प्रमुदित सांति पढ़हि मुनिराई ॥
तेहि अवसर कर बिधि-व्यवहारू। दुहुँ कुलगुर सब कीन्हँ अचारू ॥
कनक-कलस मनि कोपर रूरे। सुचि सुगंध मंगलजल पूरे ॥
निज कर मुदित राय अरु रानी। धरे राम के आगे आनी ॥
पढ़हिं बेद मुनि मंगल बानी। गगनसुमन झरि अवसर जानी ॥
बरु बिलोकि दंपति अनुरागे। पाँय पुनीत पखारन लागे ॥
जयधुनि बंदी, बेदधुनि, मंगलगान, निसान।
सुनि हरषहिं, बरषहिं बिबुध सुरतरु-सुमन सुजान ॥
कुअँर-कुअँरि कल भाँवरि देहीं। नयन लाभु सब सादर लेहीं ॥
जाइ न बरनि मनोहर जोरी। जो उपमा कछु कहौं सो थोरी ॥
राम-सीय सुन्दर प्रतिछाहीं। जगमगाति मनिखंभन माहीं ॥

(रामचरितमानस १/३२२/१-८; ३२३/५-८; ३२४,१-३)

दूध, दधि, रोचना कनकथार भरि-भरि,
आरती सँवारि बर नारि चलीं गावतीं ॥
लीन्हें जयमाल करकंज सोहैं जानकी के,
"पहिराओ राघोजू को" सखियाँ सिखावतीं ॥
तुलसी मुदित मन जनक, नगरजन,
झाँकती झरोखे लागीं सोभा रानी पावतीं ॥
मानहुँ चकोरी चारु बैठी निज-निज नीड़,
चंद की किरन पीवें, पलकैं न लावतीं ॥

(कवितावली १/१३)

दूलह श्री रघुनाथ बने दुलही सिय सुन्दर मन्दिर माहीं।
गावति गीत सबै मिलि सुंदरि, बेद जुवा जुरि बिप्र पढ़ाहीं ॥

राम को रूप निहारति जानकी कंकन के नग की परछाहीं।
चातें सबै सुधि भूलि गई, कर टेकि रही पल टारति नाहीं॥
(कवितावली १/१७)

दूलह राम, सीय दुलही री।
घन-दामिन बर बरन हरनमन, सुंदरता नखसिख निबही री॥
ब्याह-बिभूषन-बसन-बिभूषित, सखि-अवली लखि ठगि-सी रही री॥
जीवन जनम-लाहु, लोचन-फल है इतनोइ, लह्यो आजु सही री॥
सुखमा-सुरभि सिंगार-छीर दुहि मयन अभियमय कियो है दही री॥
मथि माखन सियराम सँवारे, सकल-भुवन-छबि मनहुँ मही री॥
तुलसिदास जोरी देखत सुख, सोभा अतुल न जात कही री॥
रूपरासि बिरची बिरंचि मनो, सिला-लवनि रति-काम लही री॥
(गीतावली १/१०४)

सजहिं सुमंगल साज, रहस रनिवासहिं।
गान करहिं पिकबैनि सहित परिहासहिं॥
उमा, रमादिक सुरतिय सुनि प्रमुदित भईं।
कपट नारि-बर-बेष बिरचि मंडप गईं॥
मंगल-आरति साजि, बरहिं परिछन चलीं।
जनु बिगसीं रबि-उदय कनक-पंकज-कलीं॥
नखसिख-सुन्दर राम-रूप जब देखहिं।
सब इंद्रिन्ह महँ इन्द्र-बिलोचन लेखहिं॥
परम प्रीति कुलरीति करहिं गजगामिनि।
नहिं अघाहिं अनुराग भाग-भरि भामिनि॥
नेगचारु कहँ नागरि गहरु लगावहिं।
निरखि-निरखि आनंद सुलोचन पावहिं॥
करि आरती, निछावरि, बरहिं निहारहिं।
प्रेममगन प्रमदागन तनु न सम्हारहिं॥
(जानकीमंगल १४६-५२)

गिरिबर पठए बोलि, लगन-बेरा भई।
मंगल अरघ, पाँवड़े देत, चले लई॥
होहिं सुमंगल-सगुन, सुमन बरषहिं सुर।
गहगह गान, निसान, मोद-मंगल पुर॥
पहिलिहि पँवरि सुसामध भा सुखदायक।
इत बिधि, उत हिमवान, सरिस, सब लायक॥

मनि चामीकर चारु थार सजि आरति।
रति सिहाहिं लखि रूप, गान सुनि भारति।।
भरी भाग, अनुराग-पुलकतनु, मुदमन।
मदनमत्त, गजगवनि चलीं बर परछन।।
बर बिलोकि बिधु-गौर सुअंग उजागर।
करति आरती सासु मगन सुखसागर।।

(पार्वतीमंगल १२८-३३)

तुलसी के शिव विवाह के शुभ अवसर पर अपना प्रकृत-वेष परिवर्तित कर रम्यतम-भव्यतम वर-वेष धारण करते हैं। अवसर की अनुकूलता का महादेव के द्वारा यह आदर जीवन के लिए अतीव प्रेरक और उपयोगी है।

रामललानहछू में तुलसी नाना संस्कारों में आज भी प्रचलित 'गारी' (व्यंग्यगीत) तक को नहीं भूले। जीवनरस-लोकरस से सराबोर इन सोहर छंदों से उनकी प्रतिभा का एक प्राणवान पक्ष उजागर हुआ है। व्यंग्य-विनोद और शील-संकोच के इस संगम का स्नान अतीव स्फूर्तिकारी है :

गावहिं सब रनिवास, देहिं प्रभु गारी हो।
राम लला सकुचाहिं देखि महतारी हो।।
हिलि-मिलि करत सवाँग सभा रसकेलि हो।
नाउनि मन हरषाइ सुगंधन मेलि हो।।
दूलह कै महतारि देखि मन हरषइ हो।
कोटिन्ह दीन्हेउ दान, मेघ जनु बरसइ हो।।

(रामललानहछू १८,१९/१-२)

विवाह दाम्पत्य-दायित्व का वहन करानेवाला एक विशेष धार्मिक संस्कार है, जो सर्वाधिक सुखमय, उल्लासमय, आनन्दमय होता है। भारत का 'विवाह' ईरान इत्यादि की 'शादी' और पाश्चात्य देशों की 'मैरिज' से भिन्न एक अटूट धार्मिक संस्कार है, खुशी और मस्ती के एक सामाजिक समझौते का समारोह मात्र नहीं। शब्दों से ही यह तथ्य प्रकट हो जाता है। विवाह समाज और संस्कृति का सर्वोपरि आधार है। इसीलिए, सामाजिक और सांस्कृतिक महाकवि तुलसीदास ने विवाह के अटूट धार्मिक और अटूट सुखद पक्षों के विशद वर्णन बारम्बार किए हैं। अन्य संस्कारों के भी वर्णन करके उन्होंने जीवनकवि होने का भरपूर परिचय दिया है। यही कारण है कि कोटि-कोटि भारतवासी जन्म, यज्ञोपवीत, विवाह इत्यादि संस्कारों के अन्त में रामचरितमानस का अखंड-पाठ कराते हैं।

संस्कृति के धर्म, दर्शन, साहित्य, संगीत, नृत्य इत्यादि नाना अंगों से लेकर वैयक्तिक एवं सामाजिक संस्कारों एवं समारोहों तक के क्षेत्रों में तुलसी ने परम्परा की रक्षा एवं मर्यादा के विकास के द्विविधि दायित्वों का सम्यक् निर्वाह

किया है। समन्वय, उदारता, प्रगति और जीवंतता इत्यादि के रस से ऊभचूभ उनकी सबल और सर्वांगपूर्ण प्रतिभा ने संस्कृति के प्रत्येक छोर को पुलकित किया है, उसका रक्षण किया है, उसका उन्नयन किया है। विश्व में तुलसी के समकक्ष महाकवि प्राप्त हो सकते हैं—होमर, फिरदौसी, दांते, शेक्सपीअर। साहित्य के सर्वोपरि अजिर भारत में भी उनके स्तर के महाकवि प्राप्त हो सकते हैं—वाल्मीकि, व्यास, कालिदास। किन्तु संस्कृति के सर्वांगपूर्ण उन्नायक के रूप में वे समग्र विश्व में अन्यतम ही प्रतीत होते हैं। नियति ने उनको अतीव विषम काल में हमारे महान् एवं प्राचीन राष्ट्र की सनातन संस्कृति के रक्षण एवं उन्नयन का दायित्व प्रदान किया था और उन्होंने इसका अद्वितीय निर्वाह कर दिखाया। हमारी महान् संस्कृति विश्वकवि तुलसीदास की सदा-सर्वदा कृतज्ञ रहेगी क्योंकि वे इसके सर्वोपरि रक्षक और उन्नायक सिद्ध हुए हैं।

७

तुलसी का प्रकृतिचित्रण

प्रकृति कृति की जननी है। कृति से अभिप्राय कविता, कला, धर्म, विज्ञान इत्यादि से है। मानव-सृजित रचनाएँ कृति में अन्तर्भूत हैं, परमात्मा-सृजित प्रकृति में। प्रकृति अर्थात् प्रकर्षप्राप्त-कृति मानव की कृति की मूल है। अतएव, प्रकृति कविता की जननी है। विश्व का आदिग्रंथ ऋग्वेद प्रकृति का महाकाव्य है, जिसके पात्र घनदेवता इन्द्र, ऊर्जादेवता अग्नि, रसदेवता सोम, प्राणदेवता मरुत, जीवन-देवता नदी, साधनदेवता वन, गतिदेवता अश्व, शक्तिदेवता गो इत्यादि अपने अभिधान में भी इस तथ्य को प्रकट करते हैं, प्रतीकार्थ में भी। प्रकृति पर जितनी और जैसी उदात्त सृष्टि ऋग्वेद में प्राप्त होती है, उतनी और वैसी संसार-साहित्य के किसी ग्रंथ में नहीं। आदिकाव्य रामायण के अरण्यकांड, किष्किधा-कांड और सुन्दरकांड में वन, पम्पासर और लंका के वर्णन प्रकृति-चित्रण के मनोहारी निदर्शन हैं, जिनसे परवर्ती महाकवियों को प्रभूत प्रेरणा प्राप्त हुई है जिनमें विश्वकवि कालिदास प्रमुख हैं। कालिदास ने 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में वन एवं आश्रम के सौंदर्य, मेघदूतम् में घन् एवं नदी के सौन्दर्य के उत्कृष्ट चित्रण किए हैं। ऋतुसंहारम् तो स्पष्टतः शृंगारिक प्रकृतिकाव्य है ही। रघुवंशम् में वन, गौ इत्यादि के चित्रण भी उत्कृष्ट हैं। विक्रमोर्वशीयम् एवं मालविकाग्नि-मित्रम् में उद्दीपनात्मक प्रकृतिचित्रण पर्याप्त गुण-परिमाण में प्राप्त होता है। कालिदास प्रकृति के महाकवि भी हैं—प्रेम के महाकवि के साथ-साथ, सौन्दर्य के महाकवि के साथ-साथ। सहज प्रवृत्ति के साथ-साथ, वाल्मीकि और कालिदास की प्रेरणा से भी, प्रायः सभी परवर्ती संस्कृत-महाकवियों ने प्रकृतिचित्रण में गहरी रुचि दिखलाई है। भारवि, माघ, श्रीहर्ष अथवा किएतार्जुनीयम्, शिशुपालवधम्, नैषधीयचरितम् की बृहत्त्रयी के महाकवियों ने प्रकृतिचित्रण में अच्छी सफलता प्राप्त की है। माघ का प्रभात-वर्णन संसार-साहित्य की एक महान् निधि है। श्रीहर्ष का चन्द्रोपालम्भ संसार की कला का एक महान् निदर्शन है।

पाश्चात्य कविता में भी आदिकवि होमर से लेकर वाल्टर डी ला मेअर तक प्रकृतिचित्रण की अनवरत-अप्रतिहत परम्परा प्राप्त होती है, जिसमें प्रकृति के कवि वर्ड्स्वर्थ को विशिष्ट स्थान प्राप्त है। इलियड एवं ओडिसी के अजर-अमर

प्रणेता होमर का उदात्त प्रकृतिचित्रण लगभग शत-प्रति-शत ऋग्वेद का जैसा है, जिसमें व्योमदेवता ज़िअस् एवं सागरदेवता पोसीडन तो इन्द्र एवं वरुण के प्रति-रूप ही प्रतीत होते हैं। होमर के अनुकरण में वर्जिल ने ऐनीड (ऐनिअड), दांते ने 'डिवाइनकॉमेडी' और मिल्टन ने 'पैराडाइज़ लॉस्ट' में उदात्त प्रकृतिचित्रण की दिशा में महान् सफलताएँ प्राप्त कीं। महाकाव्य के अतिरिक्त, गीतिकाव्य एवं मुक्तककाव्य में भी महान् प्रकृतिचित्रण प्राप्त होता है। अंग्रेजी की विश्व-विश्रुत रोमांटिक कविता के सारे कवियों—ब्लेक, कॉलरिज, वर्ड्स्वर्थ, शेली (शेले), कीट्स, बायरन इत्यादि—ने प्रकृतिकाव्य का उत्कृष्ट सृजन किया है।

प्रकृति और कविता का अन्योन्याश्रित संबंध एक सर्वविज्ञात तथ्य है। अधुनातन बौद्धिकता एवं यान्त्रिकता के अतिरेक ने इस संबंध में यत्किंचित् विक्षेप अवश्य उत्पन्न किया है किन्तु फिर भी दोनों में अब तक संगति चल ही रही है। विश्वकवि तुलसी की "नानापुराणनिगमागमसम्मत" तथा "रामायणे निगदितं" संयुक्त काव्यसृष्टि में प्रकृतिचित्रण का भव्य स्वरूप स्वाभाविक ही है। प्रकृति के अपने-आपमें सम्पूर्ण एक अनुपम लीलास्थल भारत में कोई भी सर्वोच्चस्तरीय कवि प्रकृतिचित्रण में गहरी रुचि लिए बिना नहीं रह सकता क्योंकि प्रकृति जीवन की नाड़ी है और कविता जीवन की समीक्षा।

राष्ट्र की विराट् प्रकृति के राष्ट्रकवि

तुलसी की अमर आत्मा ने आसेतुहिमाचल समग्र राष्ट्र की विराट् प्रकृति का प्राणपुलककारी चित्रण किया है और यह चित्रण प्रयत्नज न होकर सहज है, स्थूल न होकर सूक्ष्म है, स्फीत न होकर संक्षिप्त है। कवितावली का "भलि भारत भूमि" उद्गार उनके सहज मातृभूमिप्रेम का सहज उद्गार है। विनयपत्रिका का "यह भरत खंड समीप सुरसरि" उद्गार भी ठीक ऐसा ही निर्व्याज उद्गार है। वे भारत देश एवं भारतीय राष्ट्र के प्रधान नियामक एवं प्रेरक हिमालय के उदात्त सौंदर्य को चित्रित करते हैं; भारत देश एवं भारतीय राष्ट्र की नाड़ी गंगा के पावन प्रभाव का चित्रण करते हैं, महान् रत्नाकर के अजिर में क्रीड़ा करते रामेश्वरम् का चित्रण करते हैं और सच्चे राष्ट्रकवि होने का परिचय देते हैं:

हिमगिरि गुहा एक अति पावनि। बह समीप सुरसरी सुहावनि॥
आश्रम परम पुनीत सुहावा। देखि देवरिषि मन अति भावा॥
सुमिरत हरिहि श्राप-गति बाधी। सहज विमल मन लागि समाधी॥

और

परम रम्य उत्तम यह धरनी। महिमा अमित जाइ नहिं बरनी॥
करिहउँ इहाँ संभु-थापना। मोरे हृदयँ परम कलपना॥

हिमालय, गंगा एवं सागर: भारतीय प्रकृति के तीन परम तत्व। तुलसी

तीनों की ही उदात्तता से अभिज्ञ हैं। वे तीनों से ही साधना एवं आस्था को स्फुरित करते हैं, क्योंकि साधना संस्कृति की आत्मा है, आस्था मानव की शक्ति है। आस्था के संबल के बल पर ही मानव जीवन की जटिल यात्रा सम्पन्न करता है।

प्रकृतिचित्रण के नाना रूप और तुलसी :

तुलसी का जीवन प्रकृतिसंपृक्त जीवन था। उन्होंने आसेतुहिमाचल समग्र भारत का अटन किया था। रामचरितमानस के महान् शीर्षक में ही मानस या मानससरोवर या मानसरोवर संपृक्त है और यह तथ्य बालकाण्ड में वर्णित संसार साहित्य के अद्वितीय मानस-रूपक से भी स्पष्ट है। रामेश्वरम् की यात्रा लंका-काण्ड में व्यक्त रामोद्गारों में व्यंजित है। वालमीकि रामायण में राम के द्वारा शिव की प्रतिष्ठा का वर्णन नहीं है। मानसरोवर के सुरम्य, प्रशांत विराट् एवं उदात्त पार्वत्य सौंदर्य तथा रामेश्वरम् के सुरम्य, प्रशांत एवं उदात्त सागर-सौंदर्य को तो तुलसी ने हृदयंगम किया ही था, वे महिमामय सरयू तथा महतोमहीयान् गंगा के सरस, मनोरम, भावोस्फुरणकारी एवं प्रेरक नदी-सौंदर्य में भी रमे-रसे थे। उनके जीवन के अनेक वर्ष अयोध्या[1] तथा अधिकांश वर्ष वाराणसी (काशी) में व्यतीत हुए थे। आज भी अयोध्या का सरयू-सौंदर्य प्राणपुलकारी ही है। फिर, तुलसी के समय तो प्रकृति का यन्त्रमुक्त, तुमुलमुक्त, कोलाहलमुक्त सौंदर्य दिव्य ही रहा होगा :

> जन्मभूमि मम पुरी सुहावनि। उत्तर दिसि बह सरजू पावनि।।
> जा मज्जन ते बिनहि प्रयासा। मम समीप नर पावहिं बासा।।

वाराणसी में जहाँ तुलसी ने जीवन का अधिकांश भाग व्यतीत किया था, वहाँ उस समय एकांत प्रकृति सौंदर्य का ऐसा एकछत्र साम्राज्य व्याप्त था कि रामचरितमानस की प्रति की चोरी का डर तक लगा रहता था। आज भी वहाँ अपेक्षाकृत शांत वातावरण रहता है, गंगातट अतीव मनोहारी है, दृश्य में उदात्त का स्फुरण होता है। तब न विश्वविद्यालय था, न संकटमोचन—बस, हरे-भरे वेणुवन थे, शस्य-श्यामल अजिर थे। वेणुवन एवं शस्यश्यामल अजिर अब भी हैं। तब असी नदी थी। खेद है कि अब वह नाला है! वरुणा तो जीवित है, किन्तु असी नहीं। तब असी जीवित थी। असी मुहल्ला और असी घाट अब भी उसकी कथा कहते हैं। अब तुलसी का वासस्थल तुलसीघाट कहलाता है, जहाँ तुलसी-भवन लगभग ज्यों-का-त्यों खड़ा है। तुलसी के मानस पर गंगा, विशेषत: वाराणसी की गंगा, का प्रभाव परिव्याप्त है। उनकी विनयपत्रिका और कविता-वली पर भी गंगा का प्रभाव स्पष्टत: दृग्गत है।

---

१. कल्पनामूलक विद्वान् आचार्य चंद्रबली पाण्डेय ने अयोध्या को तुलसी की जन्म-भूमि मान डाला है।

तुलसी ने अनेक वर्ष तीर्थाटन अथवा देशाटन में व्यतीत किए थे, जैसा कि गोसाईंचरित, तुलसीचरित, श्यामसुन्दरदास कृत 'गोस्वामी तुलसीदास' इत्यादि ग्रन्थ भी स्पष्ट करते हैं। किन्तु उनके प्रियतर आवासस्थल क्रमशः वाराणसी, चित्रकूट तथा अयोध्या थे। चित्रकूट के पार्वत्य सौंदर्य का वर्णन उन्होंने बहुत उत्साहपूर्वक किया है—मुख्यतः गीतावली में, सामान्यतः रामचरितमानस, विनयपत्रिका तथा बरवै-रामायण में। वाराणसी, चित्रकूट एवं अयोध्या तुलसी से पहले भी तीर्थ थे, किन्तु तुलसी ने तीनों की ही तीर्थता में वृद्धि की है, जैसाकि संकटमोचन, तुलसीघाट, मानस-मन्दिर (वाराणसी), रामायण-मेला, रामलीला (चित्रकूट), तुलसी चबूतरा (अयोध्या) इत्यादि से स्पष्ट है।

विराट् पर्वताटन, सागराटन, सरिताटन, तीर्थाटन इत्यादि से संपन्न तुलसी की विराट् प्रतिभा ने प्रकृतिचित्रण के आलम्बनात्मक, उद्दीपनात्मक, उपदेशात्मक, अलंकृत, रहस्यात्मक और उदात्त अथवा प्रायः सभी रूपों में गौरवशाली सृजन किया है—इतना और ऐसा कि प्रकृतिचित्रण की दिशा में भी वे उच्चकोटि में ही आते हैं।

आलम्बनात्मक प्रकृतिचित्रण :

गीतावली के अयोध्याकांड का चित्रकूट-वर्णन पूर्वाधुनिक कविता का सर्वोत्कृष्ट प्रकृतिचित्रण माना जा सकता है। इसका आकार-प्रकार आधुनिककाल के भी किसी एक प्रकृतिचित्रण से किंचिन्मात्र अल्प महत्त्व का नहीं है। यदि समग्र हिन्दी-कविता, वस्तुतः हिन्दी-साहित्य, के कुछ सर्वोत्कृष्ट प्रकृतिचित्रणों का चयन किया जाए तो उसमें गीतावली के चित्रकूट-वर्णन को एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त होगा। क्या सहज प्रकृति, क्या कल्पना, क्या उदात्त, क्या दर्शन, क्या अलंकरण, सभी दृष्टियों से यह प्रकृतिचित्रण प्रथम श्रेणी का है, विश्वस्तर का है। यह प्रकृतिचित्रण वस्तुतः आलम्बनात्मक है, क्योंकि गीतिकाव्य के पदों में निबद्ध है तथा किसी स्थायीभाव का सहायक न होकर अपने-आपमें स्वतन्त्र है। यह ठीक है कि तुलसी-काव्य में सर्वव्याप्त तुलसीरस अथवा रामरस अथवा भक्तिरस से संपृक्त है किन्तु इसका प्रकृति-आलम्बनगत स्वरूप पर्याप्त स्फीत है और तुलसीरस अथवा रामरस अथवा भक्तिरस तो तुलसी के श्रृंगार इत्यादि अन्य रसों से भी संपृक्त हैं, जिनका पृथक् अस्तित्व सभी ने स्वीकार किया है। इस वर्णन के कुछ अंश बहुत सुन्दर हैं :

फटिकसिला मृदु बिसाल, संकुल सुरतरु तमाल,
ललित लता-जाल हरत छबि बितान की।
मंदाकिनि तटिनि तीर, मंजुल मृग-विहग-भीर,
धीर मुनि-गिरा गभीर सामगान की॥

मधुकर, पिक, बरहि मुखर, सुंदरगिरि निर्झरझर,
जलकन घन छाँह, छन प्रभा न भान की।
सब ऋतु ऋतुपति प्रभाउ, संतत बह त्रिबिध बाउ,
जनु बिहार-बाटिका नृप पंचबान की।।

स्फटिकसिला को मृदु तथा तमाल को कल्पतरु अथवा पारिजात कहने में विश्वकवि ने तलस्पर्शी प्रकृति-सौंदर्यबोध का परिचय दिया है। प्रस्तर भी नवनीत-कोमल होते हैं ! भूमितरु भी स्वर्गतरु होते हैं ! "जलकन घन छाँह, छन प्रभा न भान की" का सत्य उन्हें भली-भाँति ज्ञात है जिन्होंने जबलपुर के भेंड़ाघाट का धुवाँधार देखा है : सम्भव है, इस पंक्ति के पीछे तुलसी का धुवाँधार दर्शन विद्यमान हो ? "सब ऋतु ऋतुपति प्रभाउ, संतत बह त्रिबिध बाउ" रम्यतम प्रकृतिस्थलों में सत्य बन जाता है; इसे आज भी कश्मीर या असम, हिमाचल प्रदेश या केरल इत्यादि में इस या उस रूप में देखा जा सकता है। अतएव, इस प्रकृतिचित्रण में कल्पना एवं तथ्य का मनोहारी समन्वय दृष्टिगोचर होता है।

फूलत, फलत, पल्लवत, पलुहत बिटप-बेलि अभिमत-सुखदाई ।।
सरित-सरनि सरसीरुह-संकुल सदन सँवारि रमा जनु छाई ।।
कूजत बिहँग, मंजु गुंजित अलि, जात पथिक जनु लेत बुलाई ।।

इन तीन पंक्तियों में क्या 'गागर में सागर' (फूलत, फलत, पल्लवत, पलुहत) क्या वृत्त्यनुप्रास (उपनागरिका वृत्ति), क्या अतीव दुर्लभ श्रुत्यनुप्रास (फूलत फलत पल्लवत पलुहत बिटप-बेलि अभिमत-सुखदाई), क्या उत्प्रेक्षाएँ (वस्तुतः सहजोत्प्रेक्षाएँ), क्या ध्वनि-बिम्ब (कूजत बिहँग, मंजु गुंजत अलि) और क्या आत्मानुभूति ("जात पथिक जनु लेत बुलाई"—प्रकृतिसौंदर्य ने तुलसी को शत-शत अवसरों पर बुला-बुला कर रोका था), सभी का जैसा समन्वय हुआ है वैसा साहित्य में कम स्थलों पर ही हो सकता है।

वर्षाऋतु में पार्वत्य सौंदर्य चरम उत्कर्ष प्राप्त करता है। भारत की जलवायु एवं कृषिप्रधानता के कारण यहाँ वर्षा का महत्त्व अपार है : वर्ष शब्द अपने सारे अर्थों के साथ इसका प्रकट प्रमाण है। तुलसी ने इस तथ्य को भली-भाँति परखा है :

सब दिन चित्रकूट नीको लागत।
बरषाऋतु प्रवेष बिसेष गिरि देखन मन अनुरागत ।।
चहुँदिसि बन संपन्न बिहँग मृग बोलत सोभा पावत।
जनु सुनरेस देस-पुर प्रमुदित प्रजा सकल सुख छावत ।।

उद्दीपनात्मक प्रकृतिचित्रण :

भारतीय कविता में अधिकांश प्रकृतिचित्रण उद्दीपनात्मक रहा है। प्रकृति

भावसापेक्ष वस्तु है। वह मानवानुभूतियों का उद्दीपन करती है। अतएव, उद्दीपनात्मक प्रकृतिचित्रण प्रकृति की जीवन-सापेक्षता का प्रतीक है। रस-सिद्धांत की स्फीत सर्वग्राह्यता ने प्रकृति से प्रभूत उद्दीपन-सामग्री संकलित की है। प्रत्येक रस की निष्पत्ति प्रकृति से भरपूर सहयोग लेती या ले सकती है। तुलसी ने उद्दीपनात्मक प्रकृतिचित्रण की परम्परा से भरपूर लाभ उठाया है। उन्होंने भक्ति, तप, ध्यान इत्यादि में प्रकृति से पूरी-पूरी सहायता ली है। किन्तु उनका सर्वश्रेष्ठ उद्दीपनात्मक प्रकृतिचित्रण रामचरितमानस के बालकांड के पुष्पवाटिका से लेकर स्वयंवर तक के प्रसंगों में प्राप्त होता है, जहाँ संयोग-शृंगार का सुन्दर वर्णन किया गया है, जहाँ पूर्वराग (आचार्य विश्वनाथ कृत साहित्य दर्पण में प्रतिपादित) अथवा अभिलाषामूलक (आचार्य मम्मट कृत काव्य-प्रकाश में प्रतिपादित) वियोग-शृंगार का भी उत्कृष्ट वर्णन किया गया है। ऐसा कोई वर्णन वाल्मीकि-रामायण, अध्यात्म-रामायण इत्यादि में नहीं प्राप्त होता :

भूपबागु बर देखेउ जाई। जहँ बसंत ऋतु रही लोभाई ।।
लागे बिटप मनोहर नाना। बरन-बरन बर बेलि-बिताना ।।
नवपल्लव फल सुमन सुहाए। निजसंपत सुररूख लजाए ।।
चातक कोकिल कीर चकोरा। कूजत बिहग नटत कल मोरा ।।
मध्य बाग सर सोह सुहावा। मनिसोपान बिचित्र बनावा ।।
बिमल सलिलु सरसिज बहुरंगा। जलखग कूजत गुंजत भृंगा ।।

तुलसी का पुष्पवाटिका-वर्णन दृश्यालेखन, बिम्बालेखन, ध्वनि-बिम्ब एवं अलंकरण की सारी-की-सारी दृष्टियों से बहुत उच्चकोटि का है। प्रकृति से शृंगार रस की ऐसी सुन्दर उद्दीपन-सामग्री अनायास ही कालिदास (अभिज्ञान शाकुन्तलम्) का स्मरण करा देती है (मेरा अनुमान है कि परवर्ती संस्कृत साहित्य की पुष्पवाटिका-प्रकरणकल्पना को कालिदास से ही प्रेरणा प्राप्त हुई होगी)।

रामचरितमानस के अरण्यकाण्ड में राम के विरह-वर्णन में भी उद्दीपनात्मक प्रकृतिचित्रण का प्रभावी एवं स्फीत रूप प्राप्त होता है जिसमें वियोग-शृंगार की सफल निष्पत्ति हुई है। वाल्मीकि-रामायण, कम्ब-रामायण, रामचन्द्रिका इत्यादि में भी इस प्रकार के सुन्दर वर्णन प्राप्त होते हैं :

हे खग-मृग, हे मधुकर-श्रेनी। तुम्ह देखी सीता मृगनैनी ।।
खंजन सुक कपोत मृग मीना। मधुपनिकर कोकिला प्रबीना ।।
कुदकली दाड़िम दामिनी। कमल सरदससि अहिभामिनी ।।
बरुनपास मनोजधनु हंसा। गज केहरि निज सुनत प्रसंसा ।।
श्रीफल कनक कदलि हरषाहीं। नेकु न संक सकुच मन माहीं ।।
सुनु जानकी, तोहि बिन आजू। हरषे सकल पाइ जनु राजू ।।
किमि सहि जात अनख तोहि पाहीं। प्रिया, बेगि कस प्रगटत नाहीं ।।

प्रकृति के अवयवों से सीता के अवयवों की स्मृति संस्फुरित है। इसमें मौलिकता या सूक्ष्मता नहीं है। किन्तु ऐसे वर्णनों की एक परिपाटी रही है और तुलसी उसे गतिशील करने में बहुत सफल हैं। इस वर्णन में भी मार्मिकता अवश्य है, भले ही वह अधिक सहज और अकृत्रिम न हो। एक स्थल पर तो अतीव मार्मिक कविता के दर्शन होते हैं :

नारिसहित सब खग-मृग-बृंदा। मानहुँ मोरि करत हहिं निंदा ॥
हमहिं देखि मृगनिकर पराहीं। मृगी कहहिं तुम्ह कहँ भय नाहीं ॥
तुम्ह आनन्द करहु मृग-जाए। कंचन-मृग खोजन ये आए ॥
संग लाइ करिनी करि लेहीं। मानहुँ मोहिं सिखावन देहीं ॥

वियोगश्रृंगार की रसनिष्पत्ति का उद्दीपनात्मक प्रकृतिचित्रण इस स्थल पर भी प्राप्त होता है। वाल्मीकि, कालिदास, कम्बन् इत्यादि महाकवियों ने भी ऐसे वर्णन बहुत उत्साहपूर्वक किए हैं :

बिटपबिसाल लता अरुझानी। बिबिध बितान दिए जनु तानी ॥
कदलि ताल बर धुजा पताका। देखि न मोह धीर मन जाका ॥
बिबिध भाँति फूले तरु नाना। जनु बानैत बने बहु बाना ॥
कहुँ-कहुँ सुन्दरबिटप सुहाए। जनु भट बिलग-बिलग होइ छाए ॥
कूजत पिक मानहुँ गज माते। ढेक-महोख ऊँट बिसराते ॥
मोर चकोर कीर बर बाजी। पारावत मराल सब ताजी ॥
तीतर-लावक पदचर-जूथा। बरनि न जाइ मनोज-बरूथा ॥
रथ गिरिसिला दुंदुभी झरना। चातक बंदी गुनगन बरना ॥
मधुकर मुखर भेरि सहनाई। त्रिबिध बयारि बसीठीं आई ॥
चतुरंगिनी सेन सँग लीन्हें। बिचरत सबहिं चुनौती दीन्हें ॥

सांगरूपक-सम्राट तुलसी ने यहाँ वनसौंदर्य को पूरा-पूरा ताना-बाना पहना दिया है। जायसी के पदमावत में नागमती के विरह-वर्णन को बारहमासा-शैली में प्रस्तुत किया गया है, जिसमें वर्षा के विरहिणी पर आक्रमण का सांगरूपक ("चढ़ा असाढ़ गगन घन गाजा" इत्यादि) इसी वर्णन की जाति का है। ऐसे वर्णन संस्कृत में पर्याप्त हुए हैं। रीतिकालीन कविता में भी इनका प्रयोग किया गया है।

उपदेशात्मक प्रकृतिचित्रण :

हिन्दी कविता में उपदेशात्मक प्रकृतिचित्रण के प्रतीक-कवि तुलसी ही हैं। उन्होंने संस्कृत-कविता की प्रेरणा से इस प्रकार के विस्तृत एवं सुन्दर वर्णन किए हैं। इस प्रकार के वर्णन कबीर, रहीम, वृंद, दीनदयाल गिरि इत्यादि अन्य नीति काव्यकारों ने भी किए हैं। ऐसे वर्णन नीतिकाव्य में अंतर्भूत हो सकते हैं। राम-

चरितमानस के अरण्यकाण्ड के पम्पासर-वर्णन तथा किष्किधाकांड के वर्षावर्णन एवं शरदवर्णन में उपदेशात्मक प्रकृतिचित्रण उच्चकोटि का हुआ है। किष्किधा-काण्ड तो उपदेशात्मक प्रकृतिचित्रण के लिए विख्यात ही है। वाल्मीकि-रामायण का पम्पासर-वर्णन स्फीत एवं विश्वस्तरीय है, जबकि तुलसी का संक्षिप्त एवं पारंपरिक। अध्यात्म-रामायण का उपदेशात्मक प्रकृतिचित्रण भी बहुत विख्यात है।

एक संत-महाकवि होने के कारण तुलसी ने उपदेशात्मक प्रकृतिचित्रण साधिकार एवं सोत्साह किए हैं। उनके व्यक्तित्व की विशिष्टता के कारण ऐसे वर्णन लोकप्रिय एवं प्रेरक सिद्ध हुए हैं :

संतहृदय जस निर्मल बारी। बाँधे घाट मनोहर चारी।।
जहँ-तहँ पिअहिं बिबिध मृग नीरा। जनु उदार-गृह जाचक-भीरा।।
पुरइन सघन ओट जल, बेगि न पाइअ मर्म।
माया छन्न न देखिए जैसे निर्गुन ब्रह्म।।
सुखी मीन सब एकरस अति अगाध जल माहिं।
जथा धर्मसीलन्ह के दिन सुख संजुत जाहिं।।
बिकसे सरसिज नाना रंगा। मधुर मुखर गुंजत बहु भृंगा।।
बोलत जलकुक्कुट कलहंसा। प्रभु बिलोकि जनु करत प्रसंसा।।
फलभारनि नमि बिटप सब रहे भूमि निअराइ।
परउपकारी पुरुष जिमि नवहिं सुसंपति पाइ।।

किष्किधाकाण्ड का उपदेशात्मक प्रकृतिचित्रण बहुत व्यापक एवं बहुत विशद है। इसकी लोकप्रियता भी बहुत व्यापक एवं बहुत विशद रही है :

दामिनि दमक, रह न घन माहीं। खल कै प्रीति जथा थिर नाहीं।
बरषहिं जलद भूमि निअराएँ। जथा नवहिं बुध बिद्या पाएँ।।
बूँद-अघात सहहिं गिरि कैसें। खल के बचन संत सह जैसें।।
छुद्र नदी भरि चलीं तोराई। जस थोरेहुँ धन खल इतराई।।
भूमि परत भा ढाबर पानी। जनु जीवहिं माया लपटानी।।
समिटि-समिटि जल भरहिं तलावा। जिमि सदगुन सज्जन पहिं आवा।।
सरिता-जल जलनिधि महुँ जाई। होइ अचल जिमि जिव हरि पाई।।
(वर्षावर्णन)

उदित अगस्ति पंथ जल सोषा। जिमि लोभहिं सोषहि संतोषा।।
सरिता-सर निर्मल जल सोहा। संत-हृदय जस गत-मद-मोहा।।
रस-रस सूख सरित-सर-पानी। ममता-त्याग करहिं जिमि ज्ञानी।।
जानि सरद ऋतु खंजन आए। पाइ समय जिमि सुकृत सुहाए।।
(शरदवर्णन)

तुलसी जैसा महात्मा तथा विपुलानुभावसम्पन्न महाकवि ही ऐसे प्रभावी तथा प्रेरक और साथ ही काव्यात्मक वर्णन कर सकता है। इस प्रकार के वर्णन करनेवाले वे हिन्दी के अप्रतिम महाकवि हैं।

अलंकृत प्रकृतिचित्रण :

हिन्दी-कविता में अलंकृत प्रकृतिचित्रण के प्रतीक-महाकवि केशवदास हैं। पद्माकर इत्यादि ने भी इस दिशा में उल्लेख्य सृजन किया है। तुलसी का अलंकार-बोध वैश्विक स्तर का है, परमोच्च स्तर का है; यद्यपि वह भाव से अनुशासित है भाव को अनुशासित नहीं करता, जैसाकि उनके स्तर के होमर, कालिदास इत्यादि कवियों में भी है। अलंकरण, शिल्प, रूपकतत्व, प्रतीक इत्यादि का अतिरेक प्रथम श्रेणी के स्रष्टा-द्रष्टा कलाकारों में नहीं प्राप्त होता, क्योंकि उनका अनुभूति-जगत् इतना विराट् होता है कि उसे किसी अन्य तत्त्व का साहाय्य अपेक्षित नहीं रहता : वाल्मीकि, व्यास, कालिदास या होमर, दांते, शेक्स्पीअर या फ़िरदौसी या तुलसीदास इस तथ्य के प्रमाण हैं। अतएव, तुलसी का अलंकृत प्रकृतिचित्रण भी भावसंपृक्त, वस्तुतः भावानुशासित है, केशव के अलंकृत प्रकृतिचित्रण के सदृश "अलंकृत प्रकृति चित्रण के लिए अलंकृत प्रकृतिचित्रण" नहीं, जिसका रामचंद्रिका से लिया गया एक उदाहरण ही विषय-बिन्दु को स्पष्ट कर देगा :

> सब जाति फटी दुख की दुपटी, कपटी न रहैं जहँ एक घटी।
> निघटी रुचि, मीचु घटी हू घटी, जग-जीव-जतीन की छूटी तटी॥
> अघ-ओघ की बेरी कटी बिकटी, निकटी प्रकटी गुरुज्ञान-गटी।
> चहुँ ओरिन नाचति मुक्ति-नटी, गुन-धूरजटी बन पंचवटी॥

निस्संदेह, संस्कृत पर आधृत उपर्युक्त प्रकृतिचित्रण के लिए एक विशेष प्रकार की प्रतिभा अपेक्षित है और उसकी विगर्हणा एक प्रकार की आलोचनात्मक दादागीरी ही कही जाएगी : "यह हमें पसंद नहीं, इसलिए रद्दी है !" किन्तु यह स्पष्ट है कि ऐसे वर्णन भावप्रवण न होकर चमत्कारप्रवण होते हैं, हो सकते हैं। इस छन्द में 'ट' के प्रयोग का अनुप्रास-चमत्कार दृग्गत होता है, जो अपनी 'जाति' में उच्चस्थान प्राप्त कर सकता है। भारवि, केशव, उपेन्द्र भंज (उड़िया-महाकवि) इत्यादि ने ऐसे वर्णनों में रुचि दिखलाई है। तुलसी की रुचि इससे भिन्न है। उनके अलंकृत प्रकृतिचित्रण सांगरूपकप्रधान हैं, जिनमें भाव एवं अलंकरण को लगभग समान महत्त्व तो प्रदान किया गया है, किन्तु भाव को प्रथम स्थान से च्युत नहीं किया गया।

रामचरितमानस के बालकांड में प्राप्त मानस-रूपक संसार-साहित्य में अलंकृत प्रकृतिचित्रण का सर्वश्रेष्ठ निदर्शन है। इस अतीव स्फीत एवं अतीव विशद सांग-

रूपक की समता का सांगरूपक संसार-साहित्य में दुर्लभ है। इसमें भाव के साथ भी पूरा न्याय किया गया है, अलंकार के साथ भी। तुलसी के प्रत्येक सांगरूपक-संपन्न प्रकृतिचित्रण को अलंकृत प्रकृतिचित्रण में अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता। केवल वे वर्णन ही इसके अन्तर्गत आएँगे जिनमें अलंकृति को सम्यक् महत्त्व प्रदान किया गया है। मानस-रूपक में ऐसा किया गया है। यह महानतम रूपक संसार-साहित्य की भावपरक निधि भी है, अलंकारपरक निधि भी। कुछ अंश भी बिन्दु को स्पष्ट कर सकते हैं :

सुमति-भूमि, थल-हृदय अगाधू। वेद-पुरान-उदधि, घन-साधू ॥
बरसहिं राम-सुजस-बर-बारी। मधुर, मनोहर, मंगलकारी ॥
लीला सगुन जो कहहिं बखानी। सोइ स्वच्छता करइ मल-हानी ॥
प्रेम-भगति जो बरनि न जाई। सोइ मधुरता, सुसीतलताई ॥
सो जल सुकृत-सालि हित होई। रामभगतजन-जीवन सोई ॥
मेधा-महिगत सो जलु पावन। सकिलि स्रवनमग चलेउ सुहावन ॥
भरेउ सुमानस-सुथल थिराना। सुखद, सीत, रुचि चारु चिराना ॥
सुठि सुन्दर संबाद बर बिरचे बुद्धि विचारि।
तेइ एहि पावन सुभग सर घाट मनोहर चारि ॥[1]
पुरइन सघन चारु चौपाई। जुगुति मंजु मनि सीप सोहाई ॥
छंद सोरठा सुन्दर दोहा। सोइ बहुरंग कमलकुल सोहा ॥
अरथ अनूप सुभाव सुभाषा। सोइ पराग मकरंद सुबासा ॥
सुकृतपुंज मंजुल अलिमाला। ग्यान-विराग-विचार मराला ॥
धुनि अवरेब कबित गुन जाती। मीन मनोहर ते बहु भाँती ॥
अरथ-धरम-कामादिक चारी। कहब ग्यान-विग्यान बिचारी ॥
नवरस जप तप जोग बिरागा। ते सब जलचर चारु तड़ागा ॥

मानस-रूपक विश्वकवि के विश्वकाव्य (रामायण, महाभारत, इलिअड, ओडिसी, शाहनामा एवं रामचरितमानस के लिए 'महाकाव्य' शब्द भी सम्पूर्ण-अर्थव्यंजक नहीं हो पाता; गिलगमेश, ओडिसी, ऐनीड या ऐनियड, 'डिवाइन कॉमेडी', 'पैराडाइज़ लॉस्ट' प्रभृति पाश्चात्य[2] एवं रघुवंशम्, कुमारसम्भवम्, मेघदूतम्, किरातार्जुनीयम्, शिशुपालवधम्, नैषधीयचरितम्, स्वयंभू-रामायण (पउम-चरिउ), कम्ब-रामायण, पृथ्वीराजरासो, पदमावत, रामचंद्रिका, कामा-

१. चार घाट : शिव, काकभुशुंडि, याज्ञवल्क्य, तुलसीदास। क्रमशः पार्वती, गरुड़, भरद्वाज एवं जनसामान्य के प्रति।

२. 'गिलगमेश' एशियाई काव्य है : वस्तुतः। तत्त्वतः उसका प्रभाव पश्चिम पर अधिक पड़ा है।

यनी एवं मेघनादवध प्रभृति भारतीय गौरवग्रंथों के लिए 'महाकाव्य' शब्द का प्रयोग अवश्य सटीक है) का महान् उपोद्घात है: नवरस, ध्वनि, अलंकृति, वक्रोक्ति, गुण, रीति, धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष, ज्ञान-योग-भक्ति-कर्म अर्थात् समग्र काव्यतत्त्व, समग्र दर्शनतत्त्व समग्र धर्मतत्त्व इस विश्वकाव्य में समाहित हैं। संसार के किसी काव्य की प्रस्तावना इतनी विराट्, इतनी सम्पूर्ण एवं इतनी सशक्त नहीं है। रूपक अथवा अलंकरण ने इस उपोद्घात के व्यक्त होने में सहयोग प्रदान किया है अन्यथा गर्वोक्ति का आभास हो सकता था।

विनयपत्रिका की चित्रकूट-स्तुति में कल्याणवृक्ष-रूपक को अलंकृत प्रकृति-चित्रण का एक सुन्दर निदर्शन माना जा सकता है। गीतावली के अयोध्याकाण्ड में वन-मदनोत्सव-रूपक एवं वन-कामराज-रूपक (४८ एवं ४९ पद) भी ऐसे ही हैं। ऐसे अलंकृत प्रकृतिचित्रण मानस एवं विनयपत्रिका में अनेक स्थलों पर प्राप्त हो जाते हैं।

रहस्यात्मक प्रकृतिचित्रण :

हिन्दी में रहस्यात्मक प्रकृतिचित्रण के सर्वोत्कृष्ट निदर्शन कबीर, जायसी, पंत, महादेवी इत्यादि की कविता में प्राप्त होते हैं। कबीर साधनात्मक-रहस्य-वाद के विश्वस्तरीय महाकवि हैं, जायसी सूफी-रहस्यवाद के विश्वस्तरीय महाकवि हैं। प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी, रामकुमार वर्मा, विशेषतः महादेवी इत्यादि में काल्पनिक रहस्यवाद की मनोहारी काव्यसृष्टि प्राप्त होती है जिसे रवीन्द्र से स्फुरण प्राप्त हुआ है जिनका रहस्यवाद ईषत्-साधनात्मक एवं ईषत्-काल्पनिक है। रवीन्द्र अर्द्धऋषि एवं अर्द्धकवि के सम्मिलन से पूर्ण होते हैं: उनमें अर्द्ध-याज्ञवल्क्य एवं अर्द्ध-कालिदास एक बनते हैं। उन्होंने कबीर की आत्मा को विद्यापति के शरीर में व्यक्त करने का प्रयत्न किया है और पर्याप्त सफल हुए हैं। तुलसी की रुचि रहस्यवाद में नहीं है क्योंकि वे स्पष्टतावादी हैं। फिर भी, उनकी कविता में यत्र-तत्र रहस्य के स्वर भी विवेचित किए जा सकते हैं। दो उदाहरण प्रस्तुत हैं :

जहँ विलोक मृगसावकनैनी। जनु तहँ बरिस कमल-सित-स्रेनी॥

इस अर्द्धाली में ब्रह्मशक्ति अथवा माया की प्रतीक सीता के लोचन सांसारिक कमल-सौंदर्य के मूल माने जा सकते हैं। अलौकिक का सरस लौकिक वर्णन ही रहस्यवादी कविता का मूल परिचायक तत्त्व है। विद्यापति और जायसी ने ऐसे वर्णन अधिक रुचिपूर्वक किए हैं :

१. जहँ-जहँ नयन-विकास। तहँ-तहँ कमल-प्रकास।
२. नयन जो देखा कँवल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हँस भा, दसन-जोति नग-हीर॥

गीतावली में रहस्यात्मक प्रकृतिचित्रण का एक बहुत ही उच्चस्तरीय निदर्शन प्राप्त होता है :

जल-जुत बिमल सिलनि झलकत नभ, बन प्रतिबिम्ब तरंग।
मानहुँ जग-रचना बिचित्र बिलसति बिराट अँग-अंग।।

अद्वैतवाद अथवा सर्वात्मवाद अथवा सर्ववाद (मोनिज़्म) रहस्यवाद का प्राण है। "अहं ब्रह्मास्मि" (बृहदारण्यकोपनिषद्), "तत्त्वमसि" (छांदोग्योपनिषद्) तथा "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (छंदोग्योपनिषद्) अद्वैतवाद के मूल मंत्र हैं; जिन्होंने सुकरात (निज को जानो) प्लेटो या अफ़लातून (विश्वात्मा), ईसा (स्वर्ग का राज्य तुझमें), मंसूर (मैं सत्य या परमात्मा हूँ) इत्यादि को प्रभावित-प्रेषित कर विश्व-दर्शन को संपन्न बनाया है। रहस्यवाद "ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चजगत्यांजगत्" (ईशावास्योपनिषद्) के परम दर्शन को परम भाव का रूप प्रदान करता है। रहस्यवाद काव्य में ब्रह्मरस कहा जा सकता है। उपर्युक्त पंक्तियों में अद्वैतवाद के एक प्रभावी बिन्दु प्रतिबिम्बवाद को मनोहारी अभिव्यक्ति प्रदान की गई है।

उदात्त प्रकृतिचित्रण :

काव्य में उदात्त तत्त्व वहाँ होता है जहाँ विशिष्टतमस्तरीय वर्णन विस्मयाविष्ट अथवा आश्चर्याभिभूत कर ले; एक सरस आतंक में लीन कर ले। रामायण में व्योमपथ द्वारा सागर पार करते हनुमान्, महाभारत में विराट् रूप दिखाते कृष्ण, इलिअड में विशाल व्योम से अवरोहण करते अपोलो या एथेन (एथेना), ओडिसी में स्वर्गारोहण के साथ-साथ सागरावगाहन करते हर्मीज़, 'डिवाइन कॉमेडी' में भयावह एवं चिरज्वलित नरक 'इन्फर्नो' इत्यादि एवं उसमें प्रदग्ध प्राणिसमूह, 'पैराडाइज़ लॉस्ट' में स्वर्ग से च्युत होते सैटन (शैतान), 'गंगावतरण' में स्वर्ग से उतरती गंगा, 'राम की शक्तिपूजा' में रावण रक्षिका शक्ति पर क्रुद्ध हो व्योमोच्छलन करते महावीर हनुमान् इत्यादि-इत्यादि के वर्णन विश्व-साहित्य में उदात्त के कतिपय उत्कृष्ट निदर्शन कहे जा सकते हैं। पंत के 'पल्लव' की 'परिवर्तन' कविता में "शत-शत फेनोच्छवसित-स्फीत-फूत्कार भयंकर" इत्यादि शब्दावली में निबद्ध विध्वंस-विप्लव-वर्णन, अज्ञेय के 'आँगन के पार द्वार' की 'असाध्य वीणा' कवित्ता में केशकम्बल का जटिल-सफल वादन तथा "श्रेय नहीं कुछ मेरा" इत्यादि उद्‌गार, मुक्तिबोध के 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' की 'अँधेरे में' कविता में "कहीं आग लग गई, कहीं गोली चल गई" का सुदीर्घ वर्णन इत्यादि आधुनिक हिन्दी कविता में उदात्त के कुछ स्मरणीय निदर्शन हैं। उदात्त की दृष्टि से होमर संसार के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। यों भी, होमर संसार-साहित्य के एक सीमांत हैं। किन्तु भारतीय कविता भी उदात्त की दृष्टि से बहुत अधिक संपन्न है। हिन्दी

में उदात्त तत्त्व पृथ्वीराजरासो, पदमावत, रामचरितमानस, विनयपत्रिका, कवितावली, गीतावली, गंगावतरण, कामायनी प्रभृति महान् काव्यों तथा 'राम की शक्तिपूजा', 'परिवर्तन', 'अँधेरे में', 'असाध्यवीणा' प्रभृति महान् कविताओं में बहुत ही स्तुत्य रूप में प्राप्त होता है।

काव्य में उदात्त प्रकृतिचित्रण वहाँ होता है जहाँ विशिष्टतम-स्तरीय वर्णन अपनी लोकोत्तर गौरव-गरिमा अथवा लौकिक असामान्यता से विस्मयाविष्ट कर ले। ऐसा प्रकृतिचित्रण संसार-साहित्य में बहुत अधिक नहीं हुआ। तुलसी ने कुछ स्थलों पर उदात्त प्रकृतिचित्रण में विश्वस्तरीय सफलता प्राप्त की है। दोनों सुरम्य कूलों पर हरित-गम्भीर वानीर (बेंत) के वन प्रसरित हैं जिनके मध्य विश्वसुखद विशालोज्ज्वल धारा विद्यमान है: मानो विराटनीलपर्यंक पर सहस्र-फण शेषनाग शयन कर रहे हैं—विनयपत्रिका की गंगास्तुति का यह वर्णन उदात्त प्रकृतिचित्रण का एक सुन्दर निदर्शन है। शेषनाग की विराटता का अप्रस्तुत गंगा की विराटता के प्रस्तुत के लिए निस्संदेह गौरवशाली भी है, विस्मयाभिभूतकारी भी। यहाँ 'विराटोत्प्रेक्षा' का प्रयोग नितांत सक्षम सिद्ध होता है:

हरित गंभीर वानीर दुहुँ तीर वर,
मध्य धारा विशद विश्वअभिरामिनी।
नील-पर्यंक-कृत-शयन सर्पेश जनु,
सहस-सीसावली-स्रोत सुर-स्वामिनी॥

गीतावली के चित्रकूट-वर्णन में ऐसी ही 'विराटोत्प्रेक्षाओं' से सम्पन्न उदात्त प्रकृतिचित्रण का प्रस्तुत निदर्शन होमर-काव्य का स्मरण कराए बिना नहीं रहता। यद्यपि इस महत्तमस्तरीय वर्णन को हृदयंगम करने के लिए पौराणिक एवं दार्शनिक अप्रस्तुत-बोध अत्यावश्यक है, तथापि सामान्य पाठक भी इसकी उदात्तता का आकलन कर सकता है:

सोहत स्याम जलद मृदु घोरत धातु-रँगमगे सृंगनि।
मनहुँ आदि-अंभोज बिराजत सेवित सुर-मुनि-भृंगनि॥
सिखर परस घन-घटहि मिलति बगपाँति सो छबि कबि बरनी।
आदि बराह बिहरि बारिधि मनो उठ्यो हैं दसन धरि धरनी॥
जल-जुत बिमल सिलनि झलकत नभ, बन-प्रतिबिम्ब तरंग।
मानहु जग-रचना बिचित्र बिलसहि बिराट अँग-अंग॥

पशु-पक्षी-चित्रण :

पशु-पक्षी-चित्रण प्रकृतिचित्रण का एक प्रभावी अंग है। जीवंत, क्रीड़ारत, गतिशील पशु-पक्षी मानव को अपार उल्लास प्रदान करते हैं। साहित्य के जन्म के साथ ही उसमें पशु-पक्षियों के उल्लेख एवं वर्णन होने लगे थे। ऋग्वेद में वृषभ,

गो, अश्व तो देवता ही हैं, 'सरमा' भी विद्यमान है। रामायण एवं महाभारत के सारमेय उसका स्मरण कराए बिना नहीं रहते। ऋग्वेद, रामायण, महाभारत, इलिअड, ओडिसी इत्यादि विश्व-साहित्य के प्राचीनतम एवं महानतम ग्रंथों में श्येन, गरुड़ इत्यादि शक्तिशाली पक्षियों के सादर उल्लेख भी प्राप्त होते हैं। होमर के महाकाव्य ओडिसी में आर्गोस नामक श्वान के अंत का वर्णन संसार-साहित्य का एक स्थायी एवं महान् धन है। श्वान मानव के प्रियतर पशुओं में एक है। शुक, सारिका, कोकिल, चातक, चकोर इत्यादि पक्षी भी कविता के धन रहे हैं। विश्वकवि तुलसी की महान् प्रतिभा ने रामचरितमानस में पशु-पक्षी-वर्णन में गंभीर सफलता प्राप्त की है। तुलसी समग्र जीवन के समग्र महाकवि हैं। उनकी दृष्टि पशु-चेष्टाओं एवं पक्षी-प्रवृत्तियों में बहुत गहरी रमी है; ऐसी, जिसकी समता संसार-साहित्य में दुर्लभ ही है :

फिरत बिपिन नृप दीख बराहू। जनु बन दुरेउ ससिहि ग्रसि राहू ।।
बड़ बिधु नहिं समात मुख माहीं। मनहुँ क्रोधबस उगिलत नाहीं।।
कोल कराल दसन छबि गाई। तनु बिसाल पीवर अधिकाई।।
घुरघुरात हय-आरौ पाएँ। चकित बिलोकत कान उठाएँ।।

वन्य वराह के सबलतर सौंदर्य एवं उसकी सहजतर चेष्टाओं का यह संक्षिप्त वर्णन बाण भट्ट कृत कादम्बरी के महान् एवं स्फीत अश्व-वर्णन की स्मृति करा देता है। अंतिम अर्द्धाली का बिम्बालेखन अपनी सहजता में शतशः अतुलनीय है। बालकांड की प्रतापभानु-कथा का यह वर्णन निस्संदेह विश्वस्तरीय है। अयोध्याकाण्ड की राम-वनगमन-कथा का प्रस्तुत वर्णन करुणाकलित होने के कारण मार्मिकता में अद्वितीय है :

देखि दखिन दिसि हय हिहिनाहीं। जनु बिन पंख बिहग अकुलाहीं ।।
नहिं तृन चरहिं, न पियहिं जलु, मोचहिं लोचन बारि।
ब्याकुल भए निषाद सब रघुबर-बाजि निहारि।।
चरफराहिं, मग चलहिं न घोरे। बनमृग मनहुँ आनि रथ जोरे।।
अढ़ुकि परहिं, फिरि हेरहिं पीछें। रामबियोग बिकल दुख तीछें।।
जो कह रामु, लखनु, बैदेही। हिंकरि-हिंकरि हित-हेरहिं तेही ।।

अश्वव्यथा एवं अश्वचेष्टाओं का प्रस्तुत वर्णन भी विश्वस्तरीय हैं। इसकी समता ओडिसी में श्वान आर्गोस के अवसान के उस महान् वर्णन से की जा सकती है, जिसमें किसी समय का विशाल एवं प्रचंड आखेटक-पशु स्वामी की सुदीर्घ अनुपस्थिति में खिन्न, वृद्ध, उपेक्षित, दयनीय अवस्था में तब क्षीणतम पुच्छचालन करते हुए दम तोड़ देता है जब उसे स्वामी वृद्धप्राय भिक्षुक के छद्मवेष में दृग्गत होता है। नायक ओडीसिअस को उसकी पत्नी पेनीलोप (पिनेलोपी) तक नहीं पहचान सकी थीं क्योंकि वे लगभग अठारह वर्षों के बाद लौटे थे, भयावह कष्टों

और विषम यात्राओं के कारण नितांत परिवर्तित हो चुके थे, छद्मवेष-छद्मरूप में थे। किन्तु आर्गोस पहचान गया ! और वह भी मरते समय ! होमर का आर्गोस-वर्णन संसार-साहित्य के गिने-चुने सर्वश्रेष्ठ करुण वर्णनों में एक है।

तुलसी ने पक्षी-चेष्टाओं के वर्णन में विशेष रुचि नहीं दिखलाई। फिर भी, रामचरितमानस में "हरषित खगपति पंख फुलाए" तथा गीतावली में राम-सीता-वियुक्त शुक-सारिका-उल्लेख प्रभृति बिन्दु इस दिशा में भी प्राप्त हो ही जाते हैं।

आकलन :

तुलसी का प्रकृतिचित्रण उनके महत्तमस्तरीय काव्यसृजन का एक गौरव-शाली अंग है। यद्यपि वे वाल्मीकि, कालिदास, वर्ड्स्वर्थ, पंत इत्यादि के सदृश 'प्रकृति के कवि' नहीं माने जाते तथापि उनका प्रकृतिचित्रण गुण एवं परिमाण, गौरव एवं वैविध्य में प्रथम श्रेणी का ही है। तुलसी के प्रकृतिचित्रण की सर्वोपरि विशेषता उनकी सूक्ष्मतम पर्यालोचन से सम्पन्न स्वाभाविकता है, जिसमें कल्पना को उचित स्थान तो प्राप्त है किन्तु उसका अतिरेक कहीं नहीं है। उच्चतम कविता में ऐसा ही होता है। उनके प्रकृतिचित्रण की दूसरी विशेषता सात्विकता है जो अध्येता के अन्तःकरण को शीतल कर देती है। अनुकूल भाषा एवं उत्तम अलं-करण उनके प्रकृतिचित्रण की अन्य विशेषताएँ हैं। अंततोगत्वा, यह कहा जा सकता है कि अपने गौरवशाली प्रकृतिचित्रण में भी तुलसी एक विश्वकवि ही सिद्ध होते हैं।

८

रामचरितमानस में अवतारवाद

अवतारवाद प्रतीकवाद का चरम उत्कर्ष है। प्रतीक आस्था का प्राण है। प्रतीक आस्था का आधार है। मानव कभी और कहीं प्रतीक के बिना आस्थासम्पन्न नहीं हुआ। प्रतीक के बिना आस्था निष्प्राण और निराधार हो जाएगी। हठयोग का सहस्रार प्रतीक है, निर्गुण-भक्ति का निरंजन प्रतीक है, सगुण-भक्ति का राम प्रतीक है, सगुण-भक्ति का कृष्ण प्रतीक है, ईसाई मज़हब का प्रभु या पिता प्रतीक है, ईसाई मज़हब का प्रभुपुत्र प्रतीक है, इस्लाम का अल्लाह प्रतीक है, इस्लाम का पैग़म्बर प्रतीक है। ईश्वरहीन धर्मों में जिन प्रतीक है, बुद्ध प्रतीक है। मार्क्सधर्म में 'द्वंद्व' प्रतीक है, स्वयं मार्क्स प्रतीक है, लेनिन प्रतीक है। आस्था चाहे व्यक्त के प्रति हो या अव्यक्त के प्रति, प्रतीक के बिना जीवित नहीं रह सकती। प्रतीक हटा दिया जाए तो कपिल का "ईश्वरासिद्धेः" ही तथ्य होगा, राम वालिवध-सीतात्यागादि में आलोच्य लगेंगे, कृष्ण द्रोण-कर्ण-दुर्योधन-भूरिश्रवा-वधों में सिद्धांतहीन एवं कामुक, ईसा जारज एवं अन्धविश्वास-प्रस्तारक, मोहम्मद राजनीतिज्ञ एवं कामुक। ईश्वरहीन धर्मों के बुद्ध एवं महावीर अपने मूल सिद्धार्थ एवं वर्द्धमान अभिधानों से हटने के कारण अहंवादी प्रतीत होंगे। मार्क्स तो खैर चिड़चिड़े और शराबी थे ही,[1] निर्वासित लंदनवादी लेनिन प्रथम विश्वयुद्ध में रूस की पिटाई से प्रसन्न होने के कारण देशद्रोही एवं अवसरवादी प्रतीत होंगे। किन्तु आस्था ऐसा नहीं होने देगी। मानव की सीमाएँ उसे आस्थाहीन नहीं रहने देतीं। मानव सत्य का साक्षात्कार करना चाहता है; एक सीमा तक, करता भी है। किन्तु चरम सत्य का साक्षात्कार मानव के वश में नहीं है: "हिरण्मयेन पात्रेन सत्यस्यापिहितं मुखम्"; उसे नेति-नेति की शरण लेनी पड़ती है। विश्व के अतुलनीयत: सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक, बृहदारण्यकोपनिषद् एवं शतपथब्राह्मण के प्रणेता, मैत्रेयी के पति, जनक के गुरु, गार्गी से शास्त्रार्थकर्त्ता परमर्षि याज्ञवल्क्य "आत्मा वा अरे द्रष्टव्य:" का संदेश देते हैं किन्तु वे "विज्ञातारं अरे केन विजानीतात् ?"

---

१. भारतीयों को मार्क्स भारत-निन्दक होने के कारण घृणास्पद तक लग सकते हैं।

से भी भली-भाँति परिचित हैं, जैसा कि उनके यूनानी-अनुवादक एवं प्रेरित सुकरात भी हैं, अज्ञेयवादी कांट भी हैं, स्पेन्सर भी हैं। किन्तु मानव ससीम से असीम की ओर अनवरत रूप से यात्रा करता आया है। "पूर्णमदः पूर्णमिदं" असीम-ससीम को एकाकार कर देते हैं। ब्रह्म का अर्थ है व्याप्त। इसी व्याप्ति के आधार पर याज्ञवल्क्य "अहं ब्रह्मास्मि" की घोषणा करते हैं, जिनसे प्रेरित मंसूर इसका "अनलहक" अनुवाद करते हैं। इसी व्याप्ति के आधार पर उद्दालक "तत्त्वमसि" की घोषणा करते हैं, जिनसे प्रेरित ईसा "स्वर्ग का राज्य तुझमें" अनुवाद करते हैं। ऐसी घोषणाएँ सर्वप्रथम भारत में ही की गई, जो उसके जगद्-गुरुत्व का सर्वोपरि आधार हैं। सुकरात का आत्मवाद, प्लेटो का विश्वात्मा, ईसा का आत्मवाद, मंसूर का आत्मवाद, वर्ड्स्वर्थ का विश्वात्मा, शेली (शेले) मनस्-सौन्दर्य, अरविन्द का भूमि-स्वर्गीकरण इत्यादि में याज्ञवल्क्य एवं उद्दालक की ही प्रेरणा व्याप्त है।

मानव ने, अपनी सीमाओं को जानते हुए भी, अपरिसीम की ओर सबसे प्रथम प्रयाण ऋग्वेद में किया था। मेरे मत से, ऋग्वेद के दर्शन को देवसान्निध्य-वाद कहा जा सकता है। ऋग्वेद के द्रष्टा ऋषियों और ऋषिकाओं ने पराशक्ति को प्रकृति के नाना रूपों में व्यक्त देखा था, उसके संकेतों का रहस्य समझा था, उसके सान्निध्य को प्राप्त करने का पावन प्रयास किया था। उनका यह प्रयास अतीव सहज है, विश्व भर में अद्वितीय है। ऋग्वेद में देवताओं का मानवीकरण किया गया है, ऋग्वेद में देवियों का मानवीकरण किया गया है। ऋग्वेद के देवता ऋषियों द्वारा सज्जित भी किए गए हैं। यह देवसान्निध्यवाद अतीव गहन और अतीत पावन है। कालान्तर में, उपनिषद् ने इसे ब्रह्मवाद के ज्ञान में परिणत किया, पुराणों ने अवतारवाद की भक्ति में। तुलसीदास वेद के देवसान्निध्यवाद, उपनिषद् के ब्रह्मवाद और पुराणों के अवतारवाद की मूल एकता के महान् द्रष्टा थे। उन्हें इस एकता में किसी विरोध की प्रतीति नहीं हुई। ऐसा विरोध तत्त्वतः अध्यासमूलक है, इस तथ्य से भी वे भली-भाँति परिचित थे। रामभक्ति उन्हें अपने गुरु नरहरिदास अथवा नरहरदास से प्राप्त हुई थी; शैशवकाल में, बाल्यकाल में। रामभक्ति उनका संस्कार बन गई थी, दोहावली में उन्होंने स्पष्टतः कहा है :

सेइ साधु गुरु, समुझि, सिखि, रामभगति थिरताइ।
लरिकाईं को पैरिबो, तुलसी बिसरि न जाइ॥

कालान्तर में, काशी में, लगभग पंद्रह वर्षों के सुदीर्घकाल तक शेष सनातन जैसे अगाध विद्वान् से वेदादि की शिक्षा प्राप्त करके उन्होंने वेद और पुराण के तादात्म्य को आत्मसात् किया था। उनके गहन अध्ययन ने वेद और पुराण को एक-दूसरे का पूरक पाया। अनेक स्थूल अध्ययनकर्त्ताओं ने वेद और पुराण में

जिस विरोध के दर्शन किए हैं, तुलसीदास उससे मुक्त थे। स्थूल अध्ययनकर्ता तो वेद और वेदांत में भी विरोध के दर्शन करते हैं। स्थूलता प्रकृति से ही विरोधमयी होती है; सूक्ष्मता प्रकृति से ही ऐक्यमयी होती है। तुलसीदास सूक्ष्मता के कृपापात्र थे। वे महर्षि थे। महर्षि सर्वत्र एकता के दर्शन करता है।

ऋग्वेद के द्रष्टा ऋषिदेवता का मानवीकरण करते हैं। ऋग्वेद स्वर्ग के भूमीकरण का महाकाव्य है। उसके प्रथम मन्त्र में ही अग्नि का महान् मानवीकरण दृष्टिगोचर होता है :

ओ३म् अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम् ॥

"यज्ञ के पुरोहित, दीप्तिमान, देवों को बुलानेवाले ऋत्विक् और रत्नधारी अग्नि की मैं स्तुति करता हूँ।" यहाँ अग्नि पुरोहित इत्यादि में मानवीकृत मात्र नहीं हैं; रत्नधारी भी हैं। इस मन्त्र के द्रष्टा ऋषि मधुच्छन्दा हैं। निम्नलिखित मन्त्र, जिसके द्रष्टा ऋषि पराशर हैं, अग्नि को जीवन के एकदम समीप ले आता है :

रयिर्न चित्रा सूरो न संदृगायुर्न प्राणो नित्यो न सूनुः।
तक्वा न भूर्णिर्वना सिषक्ति पयो न धेनुः शुचिर्विभावा ॥

"अग्नि धन की भाँति विलक्षण, सूर्य की भाँति सर्वपदार्थदर्शक, प्राणवायु की भाँति जीवनरक्षक एवं पुत्र की भाँति हितकारी हैं। अग्नि अश्व की भाँति लोक को वहन करते और दुग्धदात्री गौ की भाँति उपकारी हैं। दीप्ति एवं आलोक युक्त अग्नि वन दग्ध करते हैं।" यहाँ मालोपमा में ऊर्जा के प्रतीक अग्नि-देवता जीवन में सर्वत्र व्याप्त दृष्टिगोचर होते हैं। निम्नलिखित मन्त्र, जिसके द्रष्टा ऋषि शुनःशेप हैं, में उषा का आलिंगन करने वाला पुरुष प्रश्नबद्ध है; दार्शनिक दृष्टि से निस्संदेह वह ज्योतिपुरुष है; किन्तु सामान्य दृष्टि से वह देवसान्निध्यवाद के मधुररस का नियामक है :

कस्त उषः कधप्रिये भुजे मर्तोअमर्त्ये।
कं नक्षसे विभावरि ॥

"हे कथनप्रिय, अमर उषा! तुम्हारे सम्भोग के हेतु कौन-सा मनुष्य है? हे प्रभावसम्पन्न! तुम किसे प्राप्त होगी?" इस प्रकार के शत-शत उदाहरण सिद्ध करते हैं कि ऋग्वेद के द्रष्टा ऋषि दिव और पृथिवी को निकटतर ला रहे थे। ऋग्वेद के इन्द्र सुन्दर नासिकावाले युवा हैं, उषा दिवोदुहिता हैं, आदित्य पर्यटक हैं; मरुत् अलंकृत हैं और सिंहवत् निनाद करते हैं। यह सब तो रहा देव—मानवीकरण अथवा स्वर्ग-भूमीकरण; तत्त्वतः देवसान्निध्यवाद। इसे और आगे बढ़ाकर पुरूरवा-उर्वशी-प्रेम तक ले जाया गया है। उर्वशी अप्सरा है; दिव्य। पुरूरवा नरेश है; पार्थिव। दोनों का मिलन स्वर्ग-पृथिवी का मिलन है।

'पुरुष' शब्द का परमात्मा के लिए प्रयोग सर्वप्रथम ऋग्वेद में ही हुआ है। ऋग्वेद के दशम मण्डल के सप्तम अष्टक का नब्बेवाँ सूक्त, जिसमें सोलह ऋचाएं हैं, आगे चलकर आकार में कुछ बढ़ता हुआ यजुर्वेद का इक्कीसवाँ अध्याय या पुरुष-सूक्त बन गया। पुरुष-सूक्त, जिसमें परमपुरुष परमात्मा के गुण-कार्यों का वर्णन है, ब्रह्म की विराट् साकारता का चित्रांकन करता है :

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं सर्वतः स्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशांगुलम् ॥

यह सहस्रशीर्ष, सहस्रनेत्र, सहस्रचरण, सर्वत्र व्याप्त, पाँच स्थूलभूत एवं पाँच सूक्ष्मभूत अर्थात् दशावयवयुक्त, सृष्टिकर्ता, विराट् ब्रह्म वस्तुतः एवं तत्त्वतः परवर्ती साकारवाद अथवा अवतारवाद का मूल है। इसके मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, जघन से वैश्य एवं चरण से शूद्र उत्पन्न हुए; इसके मनस् से चन्द्रमा, चक्षु से सूर्य, श्रोत्र से वायु और प्राण (आकाश) तथा मुख से अग्नि उत्पन्न हुए; इसकी नाभि से अन्तरिक्ष, शीर्ष से द्युलोक, चरणों से पृथिवी एवं श्रोत्र से दिशाएँ उत्पन्न हुईं और उसने अपने ही सामर्थ्य से अन्यान्य लोकों की सृष्टि की। इस महान् सूत्र के द्रष्टा-ऋषि नारायण हैं।

मुण्डक उपनिषद् में परमात्मा का विराट् रूपक और भी अधिक स्पष्ट कर दिया गया है, जिसमें अग्नि मस्तक, चन्द्र-सूर्य नेत्र, दिशाएँ श्रुति, वेद वाणी, वायु प्राण और समग्र जगत् हृदय है; उसके चरणों से पृथिवी उत्पन्न हुई है तथा वह समग्र प्राणियों का अन्तरात्मा है :

अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषीचन्द्रसूर्यो दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः ।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवीह्येषे सर्वभूतान्तरात्मा ॥

छान्दोग्य उपनिषद् में राजा अश्वपति वेद के ब्रह्म को ही विराट् रूपक में शब्दबद्ध करते हैं। अनेक उपनिषद् परमात्मा के जिन विराट् रूपकों के दर्शन कराते हैं वे वेदमूलक हैं, श्वेताश्वतर उपनिषद् में ब्रह्म "कर्माध्यक्षः" है, "सर्वभूतान्तरात्मा" है, "साक्षीचेताकेवलोनिर्गुणश्च" भी है। आगे चल कर, महाभारत में वेद और उपनिषद् के ही इस विराट् ब्रह्म की वन्दना की गई है :

यस्याग्निरास्यं द्योर्मूर्द्धा खं नाभिः चरणं क्षितिः ।
सूर्यश्चक्षुः दिशः श्रोत्रं तस्य लोकात्मने नमः ॥

महाभारत के ही एक अंश श्रीमद्भगवद्गीता के एकादश अध्याय में कृष्ण का विराट् रूप ऋग्वेद, यजुर्वेद, मुण्डकोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद् इत्यादि के उक्त रूपकों का ही विकास है। इन सारे रूपकों में विराट् मानव के ही निकट है; ऐसा सम्भव भी है। मानव का परमात्मा मानव से बहुत अधिक भिन्न नहीं हो सकता। बाइबिल, क़ुरान इत्यादि में इसका अनुकरण प्राप्त होता है। उपनिषद् के ब्रह्मवाद अथवा अद्वैतवाद में हम इसी तथ्य को दार्शनिक तत्त्व के रूप में प्राप्त

करते हैं। वेद का देवसान्निध्यवाद उपनिषद् में अद्वैतवाद बन जाता है। उपनिषद् का अद्वैतवाद पुराण में अवतारवाद बन जाता है। देवसान्निध्यवाद, अद्वैतवाद और अवतारवाद ब्रह्म के साधारणीकरण के महतोमहीयान् प्रयास हैं; ये तत्त्वत: एक हैं।

वेद में ब्रह्म के निर्गुण-निराकार तथा सगुण-साकार सभी की स्वीकृति के बीज विद्यमान हैं। वेद का पुरुष, वेद का विराट्, उपनिषद् का वैश्वानर, उपनिषद् का केवल, मनु का विराज, सब एक हैं; यही एक आगे चलकर पुराणों में विष्णु या राम या कृष्ण के रूप में व्यक्त किया गया। पुरुष-सूक्त में ही पुरुष के साथ श्री और लक्ष्मी विद्यमान हैं :

श्रीश्च ते लक्ष्मीश्चपल्यावहोरात्रे पार्श्वे, नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तत्।
इष्णन्निषाणामुं म इषाण, सर्वलोकं म इषाण ।।

आगे चलकर श्री तथा लक्ष्मी के प्रतीक एक कर दिए गए तथा उस एक प्रतीक को विष्णुपत्नी का रूप प्रदान कर दिया गया। पुरुष-सूक्त का पुरुष अतीव विराट् है, किन्तु उसका आकार-प्रकार मनुष्य से मिलता है। पुराणों में पहले चतुर्भुज विष्णु के रूप में उसे मनुष्य के कुछ अधिक निकट लाया गया, तदनन्तर राम और कृष्ण इत्यादि के रूप में उसे मनुष्य के एकदम निकट कर दिया गया। देवसान्निध्यवाद, अद्वैतवाद, अवतारवाद तत्त्वत: मानव की दिव्य सर्वोपरिता के प्रतीक हैं। भारतवर्ष के महर्षि ने ही संसार में सर्वप्रथम "अहं ब्रह्मास्मि" की घोषणा की थी, भारतवर्ष के महर्षि ने ही संसार में सर्वप्रथम "न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्" की घोषणा की थी, भारतवर्ष में ही मनुष्य में परमात्मतत्त्व की पूर्ण प्रतिष्ठा का दर्शन अवतारवाद प्रतिपादित किया गया। अन्यत्र भीतमनुष्य प्रभुपुत्र तथा पैग़म्बर तक ही जा पाया, भारत में मनुष्य में स्वयं प्रभु के दर्शन किए गए। मेरे मत से, वेद का देवसान्निध्यवाद, उपनिषद् का अद्वैतवाद तथा पुराणों इत्यादि का अवतारवाद सब मनुष्य की परमपावनता की सिद्धि का प्रतिपादन करते हैं। ये सब तत्त्वत: एक हैं। भारतीय संस्कृति का प्रवाह आद्यन्त एक और अविच्छिन्न है।

जैन और बौद्ध धर्मों में तीर्थंकरों तथा बोधिसत्त्वावतारों के भाव अवतार के ही रूप हैं। तीर्थंकरवाद, बोधिसत्त्ववाद तथा अवतारवाद, एक बड़ी दूरी तक, अभिन्न हैं। "एक बड़ी दूरी तक" से अभिप्राय परमतत्त्व के प्रति आस्था तथा अनास्था में मूलभूत है।

भारतवर्ष के महान् चिन्तकों ने निर्गुण-निराकार तथा सगुण-साकार पर विवाद को व्यर्थ माना है। उन्होंने ब्रह्म को निर्गुण-निराकार तथा सगुण-साकार सभी स्वीकार किया है। ब्रह्म को सीमित करने का प्रयास मूर्खतापूर्ण है। ब्रह्म

सर्वसमर्थ है; उससे सगुण-साकार होने के सामर्थ्य को छीनने का प्रयास नास्तिकता-जैसी वस्तु है। परमात्मा को मानव के निकटतम लाने का महानतम प्रयास ही अवतारवाद का मूलतत्त्व है। ब्रह्मसूत्र "अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्" की स्थापना के द्वारा अरूप-सरूप को एक घोषित करता है। "दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते" तथा "अत एव चोपमा सूर्यदिवत्" प्रभृति सूत्र ब्रह्म की साकारता को साधार प्रमाणित करते हैं। शंकराचार्य जैसे महानतम-स्तरीय दार्शनिक इस साधारता का समर्थन करते हैं। रामानुज, मध्व, निम्बार्क, वल्लभ, चैतन्य इत्यादि चिन्तकों ने तो सगुणसाकार पर विशेष ध्यान दिया ही है।

किन्तु, इस्लाम के आगमन के पश्चात् भारतीय धर्म-साधना में शासक-धर्म के स्वाभाविक, जाने या अनजाने, प्रभाव परिणामस्वरूप निर्गुण-निराकार और सगुण-साकार में विवाद उठाया जाने लगा। प्रत्येक विजेता-जातीय धर्म विजित-जातीय धर्म के मूलाधारों पर प्रहार अवश्य करता है। गत सहस्राब्दियों में भारतीय धर्म के बाहु राम और कृष्ण रहे हैं। राम और कृष्ण ने बुद्ध और महावीर का प्रभाव समाप्तप्राय कर दिया था। उनके कारण ही ईसा और मोहम्मद का प्रभाव, राजनीति के सारे चक्रों के होते हुए भी, अत्यन्त सीमित रहा है। अतएव, विदेशी धर्मप्रचारक राम और कृष्ण पर प्रहार आवश्यक समझते आए हैं। मध्यकाल में सगुण-साकार का प्रत्याख्यान इन आधारों को तोड़ने के प्रयास में मूलभूत था। राम और कृष्ण के महान् प्रभाव से परिचित कुछ चतुर तत्त्वज्ञ इनके नामों की निर्गुण-निराकारपरक व्याख्याएँ भी करते रहते थे। तुलसीदास ने जहाँ एक ओर वेद, उपनिषद्, पुराण, रामायण, महाभारत, ब्रह्मसूत्र इत्यादि को प्रभावी और जीवन्त बनाए रखने का प्रयास किया वहीं दूसरी ओर इस प्रकार के प्रकट अथवा प्रच्छन्न प्रहार का प्रभावी उत्तर भी दिया। इसका प्रमाण उनका महान् अवतारवाद है। अवतारवाद तुलसीदास का रामबाण है।

तुलसीदास निर्गुण-सगुण में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं मानते। दोनों के प्रति उनका सम्मान एकरस गम्भीर है। दोनों में वैसी ही तात्त्विक एकता है जैसी काष्ठनिहित एवं काष्ठव्यक्त अग्नि में—

अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा।
अकथ अगाध अनादि अनूपा॥
एक दारुगत, देखिय एकू।
पावक सम जुग ब्रह्म बिबेकू॥

काष्ठ में अग्नि निहित है; कोई अंगिरा-जैसा मनीषी उसे प्रकट कर सकता है। इसी प्रकार निर्गुण में मनीषी सगुण का साक्षात्कार कर सकता है। पावक की अव्यक्त अग्नि निर्गुण है; व्यक्त सगुण। इनमें कोई तात्त्विक अन्तर सिद्ध नहीं होता। सर्वसमर्थ निर्गुण ब्रह्म भक्तों के कल्याणार्थ सगुण रूप धारण कर लेता है।

निर्गुण-सगुण हिम-जलवत् अभिन्न हैं :

सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा।
गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा॥
अगुन अरूप अलख अज जोई।
भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥
जो गुन रहित सगुन सोइ कैसें।
जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसें॥

तुलसीदास ने अवतारवाद का कारण वही बतलाया है जो गीता में कृष्ण स्वयं बतलाते हैं। "परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्म संस्थापनार्थाय" यह साध्य है। "सम्भवामि युगे-युगे" यह साधन है। इस अमर आशावाद को तुलसीदास ने भी प्रतिपादित किया है :

जब-जब होइ धरम कै हानी।
बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥
तब-तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा।
हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥

अथवा

ब्यापक ब्याप्य अखंड अनंता।
अखिल अमोघसक्ति भगवंता॥
अगुन अदभ्र गिरा गोतीता।
सबदरसी अनवद्य अजीता॥
निर्मम निराकार निरमोहा।
नित्य निरंजन सुख संदोहा॥
प्रकृति-पार प्रभु सब उर-बासी।
ब्रह्म निरीह बिरज अबिनासी॥
इहाँ मोह कर कारन नाहीं।
रबि सन्मुख तम कबहुँ कि जाहीं॥

भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप।
किए चरित पावन परम प्राकृत नर अनुरूप॥
जथा अनेक बेष धरि नृत्य करइ नट कोइ।
सोइ-सोइ भाव देखावइ आपनु होइ न सोइ॥

नट के उदाहरण द्वारा ब्रह्म की लीला का प्रौढ़ प्रतिपादन अतीव सार्थक है। ब्रह्म स्रष्टा है, किन्तु निर्लिप्त भी; इसे प्रायः सारे आस्तिक धर्म स्कीकार करते हैं। उपनिषद् भी, क़ुरान भी। उपनिषद् "पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते" में उसकी शून्यवत् महिमा का सतर्क प्रतिपादन करते हैं। क़ुरान के 'सूरे इखलास'

में अल्लाह मोहम्मद के ज़रिए कहता है, "...अल्लाह एक है। अल्लाह बेपरवाह है। न कोई उससे पैदा हुआ न वह किसी से पैदा हुआ। और न कोई उसकी समता का है।" किन्तु क़ुरान में बार-बार उसे स्रष्टा भी कहा गया है। जायसी इसी का अनुवाद करते हैं :

जना न काहु, न कोइ ओहि जना।
जहँ लगि सब, ताकर सिरजना।।

बात एक ही है; पर कहने की शैली भिन्न है। इस्लाम अतर्क्य आस्था का धर्म है। उपनिषद् सतर्क बौद्धिकता का चिन्तन है। तुलसीदास के अवतारवाद में सतर्क आस्था के दर्शन होते हैं। उन्होंने वेद तथा उपनिषद् के "तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके" इत्यादि के निर्गुण तत्त्व का भी सम्मान किया है, पुराणों तथा सगुण दर्शनों के लीलातत्त्व का भी। इसलिए, तुलसीदास का अवतारवाद तर्कसम्पन्न भी है, भावसम्पन्न भी। भ्रमरगीत-परम्परा के सूर प्रभृति कवियों में भावसम्पन्नता तो है, किन्तु तर्कसम्पन्नता नहीं है; इसी परम्परा के नन्ददास प्रभृति कवियों में तर्कसम्पन्नता तो है, किन्तु भावसम्पन्नता नहीं है। तुलसीदास में दोनों हैं :

बिनु पद चलइ, सुनइ बिनु काना।
कर बिनु करम करइ बिधि नाना।।
आनन रहित सकल रस भोगी।
बिनु बानी बकता बड़ जोगी।।
तन बिनु परस, नयन बिनु देखा।
ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेषा।।...
जेहि इमि गावहिं बेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दसरथसुत भगत हित कोसलपति भगवान।।

तुलसीदास ने "सोइ दसरथसुत" अथवा "राम अनादि अवधपति सोई" अथवा "रामाख्यमीशं हरिम्" जैसे शब्दों का बारम्बार प्रयोग राम के लोकप्रिय तथा लोकप्रेरक आधार को स्थिर एवं सशक्त बनाए रखने के लिए किया है। राम के ब्रह्मत्व पर शंका करने के कारण गरुड़ को इतस्ततः अटन करना पड़ा; भ्रम के कारण स्वभावतः भ्रमित होना पड़ा। पक्षिराज को हीनपक्षी का शिष्य बनना पड़ा। तुलसीदास राम का महत्त्व जानते थे। वे समूचे हिन्दूधर्म को एक कसा हुआ खरा जीवनपथ बनाना चाहते थे; इसके लिए वे कृष्ण, शिव, विष्णु, ब्रह्मा, शक्ति, वेद, पुराण, आगम, सब के प्रति नतमस्तक थे। किन्तु, राम के पूर्ण मनुष्यत्व में ब्रह्मत्व की प्रतिष्ठा उन्हें सर्वप्रिय थी। राम का जीवन पूर्ण-जीवन था; वेदमय, लोकमय। उनका जीवन आदर्श का मानवीकरण था। किन्तु, उसमें यथार्थ की उपेक्षा कहीं नहीं थी। यथार्थ की उपेक्षा करने वाला आदर्श कोरा

वाग्जाल है। आदर्श से रहित यथार्थ कोरा विडम्बन है। तुलसीदास राम के महान् आदर्श द्वारा भारतीय संस्कृति, भारतीय साधना और भारतीय जीवन को रक्षित करना चाहते थे। इसमें वे पूर्णतः सफल हुए। आज भारत, विशेषतः उत्तर भारत, की जनता जिन राम से परिचित हैं, वे तुलसी के राम हैं, वाल्मीकि के राम नहीं, कालिदास के राम नहीं, भवभूति के राम नहीं, पुराण के राम नहीं। भारत से बाहर नेपाल, फिजी, मॉरीशस, गुयाना इत्यादि तक जिन राम की पूजा होती है, वे तुलसी के राम ही हैं।

राम का आदर्श इतना पुष्ट है कि जब तक वह विद्यमान है, भारतीय संस्कृति के विनाश का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। मानवीय मूल्यों की समग्रता का नाम राम है। संसार भर में मानवीय मूल्यों की जैसी समग्रता राम में प्राप्त होती है वैसी किसी अन्य व्यक्ति में नहीं। बुद्ध शालीनता को पावन करते हैं, ईसा आशा को, मोहम्मद विश्वास को, किन्तु, राम समग्र जीवन को; आदि से अन्त तक, पावन करते हैं। यही कारण है कि भारत में सब को उनका सहारा लेना पड़ा; भले ही सबके उद्देश्य अलग-अलग रहे हों। बौद्धों को दशरथ-जातक का सहारा लेना पड़ा, जैनों को पउम-चरिउ का, कबीर इत्यादि से गांधी इत्यादि तक को उनके नाम का। राम भारत की साँस-साँस में रम गए हैं। मध्य-काल में परम्परागत भारतीय धर्मसाधना के विरोधी राम के ररंकारमूलक अथवा रमणीयतामूलक अर्थों की आड़ में वास्तविक राम के प्रभाव को समाप्त कर एक कल्पित दार्शनिक राम की सृष्टि करना चाहते थे। कबीर इत्यादि अवतारवाद-विरोधियों के प्रयास इस कथन के अकाट्य प्रमाण हैं। तुलसीदास ऐसे विरोधी की कठोर भर्त्सना सर्वत्र करते हैं; मानस में, दोहावली में, कविता-वली में, अन्यत्र। वे राम के लोकमान्य एवं लोकप्रेरक आधार को अविच्छिन्न रखना चाहते हैं। मानस में वे शाश्वत आधार का खण्डन करने वाले प्रयासों की कठोर भर्त्सना करते हैं :

तुम्ह जो कहा राम कोउ आना।
जेहि श्रुति गाव, धरहिं मुनि ध्याना॥
कहहिं सुनहिं अस अधम नर, ग्रसे जो मोह-पिसाच।
पाषंडी हरिपद-बिमुख, जानहिं झूठ न साच॥
अग्य अकोबिद अंध अभागी।
काई विषय मुकुर मन लागी॥
लंपट कपटी कुटिल बिसेषी।
सपनेहुँ सन्तसभा नहिं देखी॥
कहहिं ते वेद-असंमत बानी।
जिन्ह कें सूझ लाभु नहिं हानी॥

"बेद-असंमत बानी" से तुलसीदास का अभिप्राय वेद के निर्गुण-सर्गुण-विवेक से है; सगुण को वेद-विरुद्ध बताना वेद का महत्त्व सीमित करना है, उपनिषद् को एकांगी बनाना है, ब्रह्मसूत्र की उपेक्षा करना है, परम्परा की अवहेलना करना है। "जिन्ह कें सूझ लाभु नहिं हानी" उन स्वधर्मी किन्तु भ्रान्त व्यक्तियों को सजग करने वाले शब्द हैं जो, बिना जाने ही, भारतीय जीवन-परम्परा के प्रधान आधारों राम और कृष्ण पर प्रहार कर अपने धर्म को लादने वालों के षड्यंत्र में सहायक सिद्ध हो रहे थे। प्रत्येक धर्म के आधार व्यक्ति ही हैं; व्यक्ति ही हो सकते हैं। मूसा, महावीर, बुद्ध, जरथ्रुस्त्र, ईसा, मोहम्मद, सब मनुष्य थे; किन्तु, सबके अनुयायी इनको इस या उस रूप में दिव्य मानते हैं। महावीर और बुद्ध तो अपने-अपने धर्मों में परमात्मा के साक्षात् प्रतीक हैं ही, क्योंकि उनके धर्मों में परमात्मा है ही नहीं, मूसा और जरथ्रुस्त्र और ईसा और मोहम्मद के धर्मों में भी परमात्मा और आत्मा इत्यादि को इन्हीं के नेत्रों से देखा जाता है। अव्यक्त ब्रह्म को प्रतीक रूप में अथवा किसी के सहारे ही समझा जा सकता है। तब राम और कृष्ण पर प्रहार क्यों? जिनके हृदय पूर्वग्रहग्रस्त हैं, जो भारतीय संस्कृति के आधार को ही खण्डित करना चाहते हैं, वे राम को कैसे समझते? :

मुकुर मलिन अरु नयन-बिहीना।
राम रूप देखहिं किमि दीना॥
जिन्ह के अगुन न सगुन बिबेका।
जलपहिं कल्पित बचन अनेका॥

तुलसीदास ऐसे व्यक्तियों की पूर्ण उपेक्षा का प्रतिपादन करते हैं:

हरिमाया बस जगत भ्रमाहीं।
तिन्हहि कहत कछु अघटित नाहीं॥
बातुल भूत बिबस मतवारे।
ते नहिं बोलहिं बचन बिचारे॥
जिन्ह कृत महामोह मद पाना।
तिन्ह कर कहा करिअ नहिं काना॥

तुलसीदास ने किसी धर्म की किसी मान्यता पर किसी प्रकार का प्रहार नहीं किया। वे अपने धर्म की किसी मान्यता पर किसी प्रकार का प्रहार सहन करने को प्रस्तुत नहीं थे। यही उचित धर्मपथ है। तुलसीदास राम के लोकप्रिय और लोक-प्रेरक रूप का ही प्रतिपादन करते हैं, जिससे जनता मतिभ्रम का आखेट न बन सके:

पुरुष प्रसिद्ध प्रकासनिधि, प्रगट परावरनाथ।
रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ, कहि सिव नायउ माथ॥

निज भ्रम नहिं समुझहिं अग्यानी।
प्रभु पर मोह धरहिं जड़ प्रानी॥
जथा गगन घन-पटल निहारी।
झाँपेउ भानु कहहिं कुबिचारी॥
चितव जो लोचन अँगुलि लाएँ।
प्रगट जुगल ससि तेहि के भाएँ॥
उमा, राम बिषइक अस मोहा।
नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा॥
बिषय करन सुर जीव समेता।
सकल एक तें एक सचेता॥
सब कर परम प्रकासक जोई।
राम अनादि अवधपति सोई॥

तुलसीदास अयोध्यापति अथवा दाशरथि अथवा राघव अथवा सूर्यवंशी राम के लोकप्रिय और लोकप्रेरक रूप का प्रतिपादन वस्तुतः भारत की समग्र संस्कृति की रक्षा के प्रतिपादन के लिए कर रहे थे। हमारे अयोध्या, चित्रकूट, पंचवटी, रामेश्वरम् इत्यादि तीर्थों का आधार कौन है? हमारे चैत्रशुक्लनवमी, विजया-दशमी, दीपावली इत्यादि पर्वों का आधार कौन है? हमारे रामायण, रघुवंशम्, उत्तररामचरितम् इत्यादि शत-शत साहित्यिक ग्रंथों का आधार कौन है? हमारी शत-शत लोककथाओं, हमारे शत-शत लोकगीतों, हमारी शत-शत उक्तियों, हमारी शत-शत प्रोक्तियों इत्यादि का आधार कौन है? अयोध्यापति राम, दाशरथि राम, राघव राम, सूर्यवंशी राम! ररंकारमूलक अथवा रमणीय राम से इने-गिने लोग ही परिचित होंगे। अतएव, तुलसीदास ने एक महान् द्रष्टा ऋषि के रूप में हमारे जीवन के महानतम आधार पर प्रकट अथवा प्रच्छन्न प्रहारों पर प्रहार किया, और उनके प्रहारों के समक्ष अन्य प्रहार प्रभावहीन सिद्ध हुए, क्योंकि वे उचित थे, क्योंकि वे वास्तव में प्रहार न होकर रक्षा के उपाय थे। उनका प्रभाव उनकी पावन महानता का प्रकट प्रमाण है।

अवतारवाद मानव की महनीयता का दर्शन है। अवतारवाद "अहं ब्रह्मास्मि" और "न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्" का रूपक है। अवतारवाद वेद के देवसान्निध्यवाद और उपनिषद् के ब्रह्मवाद का विकास है। अवतारवाद अद्वैतवाद का कलात्मक रूप है। मध्यकाल के घोर अन्धकार में अवतारवाद हिन्दू-जाति की जीवन-ज्योति बन गया था। भक्ति अवतारवाद के स्पर्श से सर्वाधिक पुलकित हुई। उपासना को प्रकट, प्रत्यक्ष, प्रकृष्ट आधार प्रदान कर अवतारवाद ने मानवता का महत् उपकार किया है। अकुण्ठित और पूर्वग्रहविहीन रहीम, रसखान, आलम, ताज बेग़म जैसे पावन मुसलमान नर-नारी इस पर रीझ कर

अमर हो गए थे। आज यन्त्र-भ्रान्त एवं मद-अशान्त पश्चिम के लक्ष-लक्ष अतीव उन्नत एवं सम्पन्न नर-नारी "हरे राम! हरे कृष्ण!!" के द्वारा शान्ति एवं सन्तोष का लाभ कर रहे हैं। अवतारवाद हिन्दूधर्म का आधार बन गया है। और तुलसीदास कठिन परिस्थिति में अवतारवाद के महानतम रक्षक सिद्ध होते हैं।

अवतारवाद आशावादी दर्शन है। वह मनुष्य को भयभीत नहीं करता; उसमें आरम्भिक अवज्ञा के पाप में मूलभूत भय अथवा प्रलय का भय अथवा नरक का भय, कोई भय, प्राप्त नहीं होता। वह मानव-शरीर को परम पावन मानता है, क्योंकि उसमें दिव्य सम्भावनाएँ निहित हैं :

बड़े भाग मानुष तन पावा।
सुर दुर्लभ सब ग्रन्थन्हि गावा।।
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा।
पाय न जेहिं परलोक सँवारा।।

अथवा

नर तन सम नहिं कवनिउ देही।
जीव चराचर जाचत तेही।।
नरक स्वर्ग अपबर्ग निसेनी।
ग्यान बिराग भगति सुभ देनी।।

यही वह शरीर है जिसमें स्वयं परमतत्त्व अवतरित होता है। वह महान् परमतत्त्व किसी भी शरीर में अवतरित हो सकता है; वह सर्वसमर्थ है। किन्तु, उसे मानव-शरीर सर्वाधिक प्रिय है; इसमें वह सर्वाधिक अवतरित हुआ है; उसने लीलाएँ केवल इसी शरीर में की हैं। संसार में अवतारवाद से बढ़कर मानव-महिमा प्रतिपादक दर्शन कोई और हो ही नहीं सकता। अवतारवाद पावनतम आशावाद का चरम उत्कर्ष है। भारतीय दर्शन अवतारवाद पर गर्व कर सकता है क्योंकि मानव-मनीषा इससे आगे जा ही नहीं सकती।

९

रामचरितमानस में राजनीति

राजनीति चिरकाल से जीवन को प्रभावित करती आई है। जीवन की कोई दिशा शतशः राजनीतिमुक्त नहीं हो सकती। अतएव, महान् द्रष्टा की साहित्य-सृष्टि राजनीति-निरपेक्ष नहीं रह सकती। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास प्रभृति भारतीय साहित्य के सीमान्त कवि अपनी कृतियों में राजनीति-निरूपण भी कर गए हैं। यों भारत का राजनीतिक वाङ्मय भी उच्चतमकोटि का है। अथर्ववेद राजनीति का बीज-ग्रंथ है। इसमें शासक के गुणों, आदर्शों, कराधान, समिति इत्यादि विषयों की अच्छी चर्चा हुई है। इसके अनन्तर मनु-स्मृति, याज्ञवल्क्य-स्मृति, विदुर-नीति, नारद-नीति प्रभृति ग्रंथों में राजनीति का विशेष निरूपण प्राप्त होता है। भर्तृहरिकृत नीतिशतकम् में राजनीतिपरक श्लोक भी प्राप्त होते हैं। चाणक्यकृत अर्थशास्त्र राजनीति का महान् ग्रंथ है। इस अमूल्य ग्रंथ में राज-नीति का जैसा विशद् निरूपण प्राप्त होता है वैसा संसार के प्राचीन साहित्य में कहीं नहीं। पञ्चतन्त्र में भी राजनीति की विशद चर्चा प्राप्त होती है। 'संस्कृत-वाङ्मय में राजनीति' एक व्यापक ग्रंथ का विषय है। तुलसीदास संस्कृत-वाङ्मय के प्रबुद्ध अध्येता थे। अतएव, उनका राजनीति-अभिज्ञ होना स्वाभाविक था। रामचरितमानस इसका सर्वोपरि प्रमाण है। महाभारत के अतिरिक्त समग्र भारतीय काव्य में राजनीति का जैसा निरूपण मानस में प्राप्त होता है वैसा अन्यत्र कहीं नहीं। हिन्दी-साहित्य के किसी काव्य में राजनीति का ऐसा गंभीर विवेचन प्राप्त नहीं होता जैसा मानस में।

सहस्राब्दियों तक राजा राजनीति का प्राण रहा है। राजनीति शब्द की व्युत्पत्ति ही इसका प्रमाण है। राजा का अर्थ है प्रजा का रंजन करने वाला : "रजयतीति राजा"। प्राचीन भारतीय वाङ्मय में राजा की मर्यादाओं का विशद निरूपण प्राप्त होता है। किन्तु उसके प्रति दैवी भाव भी सर्वमान्य-सा है। मनु ने राजा को मनुष्य-रूप में देवता बतलाया है। चाणक्य ने उसे इन्द्र के समान गौरवशाली अथवा यम के समान दण्डधारी घोषित किया है। गीता में कृष्ण अर्जुन से कहते हैं, मैं मनुष्यों में राजा हूँ। बाइबिल और क़ुरान में भी राजा की दिव्यता के संकेत प्राप्त होते हैं। सेंट पाल, सेंट ऑगस्टाइन, पोप ग्रेगरी महान्

इत्यादि राजा की दैवी-शक्ति के प्रतिपादक थे। प्राचीन मिस्र और ईरान में राजा पूज्य समझा जाता था। मिस्र-ईरान विजय के पश्चात सिकन्दर महान् ने यूनान में राजपूजा प्रचलित करने के कठिन प्रयास किए थे। पश्चिम में अठरहवीं शताब्दी तक राजा की दिव्यता का प्रतिपादन होता रहा। जापान में अब तक सम्राट को सूर्यपुत्र माना जाता है। मध्यकालीन भारत में राजा की दैवी-शक्ति सर्व-मान्य थी। जायसी ने "कीन्हेंसि राजा भूंजहिं राजू" में इसी मान्यता को अभि-व्यक्ति प्रदान की है। ईरानी पद्धति पर चलते हुए, हिन्दी के मुल्ला दाऊद, कुतबन, जायसी, उस्मान, नूरमोहम्मद इत्यादि सूफ़ी कवियों ने शाहेवक़्त फ़ीरोज़ तुग़लक़, बाबर, शेरशाह, सलीमशाह, जहाँगीर, मोहम्मदशाह इत्यादि की अतिशयोक्तिपूर्ण स्तुतियाँ की हैं। सबलसिंह चौहान ने अपने महाभारत में स्थान-स्थान पर शाहे-वक़्त औरंगज़ेब की चर्चा, जाने या अनजाने, इसी परिपाटी पर चलते हुए की है। तुलसीदास ने कहीं भी शाहेवक़्त की चर्चा तक नहीं की, तारीफ़ तो दूर रही। दोहावली के एक दोहे में उन्होंने बिना नाम लिए सम-सामयिक हिन्दू नरेशों और मुग़ल-सम्राट् की भयावह शासनप्रणाली अथवा कराल राजनीति का प्रत्याख्यान किया हैं :

गोंड़ गँवार नृपाल महि, यमन महा-महिपाल।
साम न दान न भेद कलि, केवल दण्ड कराल॥

कवितावली में उन्होंने "भूमिचोर भूप भए" कहकर शासन के शोषण की विगर्हणा की है। किन्तु, चतुर और योग्य राजा की दैवी शक्ति में वे भी विश्वास रखते थे :

साधु सुजान सुसील नृपाला।
ईस-अंस भव परम-कृपाला॥

यहाँ 'ईश-अंश' की तुलना में "साधु, सुजान, सुसील, परम-कृपाला" शब्द राजा की दैवी शक्ति की अपेक्षा उसके गुणों पर अधिक ध्यान देते हैं, इसमें सन्देह नहीं। मानस में राजा और राज्य के आदर्श का प्रथम वर्णन इस प्रकार किया गया है :

भूप प्रतापभानु बल पाई।
कामधेनु भै भूमि सुहाई॥
सब दुख बरजित प्रजा सुखारी।
धरमसील सुन्दर नरनारी॥
सचिव धरमरुचि हरिपद प्रीती।
नृपहित-हेतु सिखव नित नीती॥
गुर सुर सन्त पितर महिदेवा।
करइ सदा नृप सब कै सेवा॥

भूप-धरम जे बेद बखाने।
सकल करइ सादर सुख माने॥

यहाँ प्रतापभानु के पुण्य-परिणामस्वरूप पृथ्वी के कामधेनु होने, उसके मंत्री के अभिधान से सम्मान तक धर्मरुचि होने और शिक्षा देने, राजा की व्यापक सेवा भावना इत्यादि का नहीं, 'भूप-धरम' और उसके 'सादर' और 'सुख' मानते हुए पालन का वर्णन महाभारत और शुक्रनीति इत्यादि के आदर्शों से पूरा मेल खा रहा है। 'राजा प्रतापभानु और मन्त्री धर्मरुचि' राजनीति के महान् रूपक भी हैं। राजा के कर्त्तव्यों का विशेष निरूपण करते हुए महर्षि तुलसीदास लिखते हैं :

दिन प्रति देइ बिबिध बिधि दाना।
सुनइ सास्त्र बर बेद पुराना॥
नाना बापीं कूप तड़ागा।
सुमन-बाटिका सुन्दर बागा॥
विप्रभवन सुरभवन सुहाए।
सब तीरथन्ह बिचित्र बनाए॥

तुलसीदास का राजनीति-निरूपण मानस के उत्तरकाण्ड के रामराज्य-वर्णन में अपना चरमोत्कर्ष प्राप्त करता है। रामराज्य तुलसीदास की यूटोपिआ है। आदर्शराज्य की भावना सर्वप्रथम भारत में उद्भूत हुई थी। छान्दोग्य उपनिषद् में राजा अश्वपति ने अपने अपराध-रहित राज्य का जो वर्णन किया है उसमें आदर्शराज्य की प्राचीनतम भावना के दर्शन किए जा सकते हैं। रामायण के उत्तरकाण्ड में रामराज्य-वर्णन इसी दिशा में महती उपलब्धि है। पश्चिम में आदर्शराज्य या यूटोपिआ की प्रथम महान् कल्पना महादार्शनिक प्लेटो के 'गणतन्त्र' (द रिपब्लिक) में दृष्टिगोचर होती है। प्लेटो पर भारतीय प्रभाव स्पष्ट है। उनकी 'वार्ताएँ' (प्लेटोज़ डायलॉग्स) उपनिषद् की प्रश्नोत्तर-शैली की स्मृति कराती हैं। उनका 'गणतन्त्र' दार्शनिक-राजा, योद्धा और उत्पादक इन तीन वर्गों में विभाजित है तथा प्राचीन भारत की अविकृत वर्णाश्रम-प्रणाली का यत्किञ्चित् परिवर्तित रूप मात्र है। वर्णाश्रम में द्विज ठीक यही है। सूर्य-श्रद्धा, निरामिषभोजन-प्रतिपादन इत्यादि में भी प्लेटो भारत के निकट हैं। विल ड्यूराँ की 'द स्टोरी ऑफ फिलॉसॉफी' में उनके भारत आने की स्पष्ट चर्चा है। अनेकानेक पाश्चात्य विद्वानों की यह धारणा कि प्लेटो भारत आए थे, ठीक प्रतीत होती है। पश्चिम में प्लेटो के पश्चात् यूटोपिआ लिखना दार्शनिकों का एक प्रियकर्म ही बन गया। अरस्तू, बेकन, सर टॉमस मोर, स्पेन्सर इत्यादि अनेकानेक दार्शनिकों ने आदर्शराज्य पर अपने-अपने ढंग से विशद प्रकाश डाला है। मार्क्स भी तत्त्वतः यूटोपिआकार हैं जो राज्यरहित समतामूलक समाज की महाभारत में निर्दशित सतयुग-कल्पना का विकास करते हैं।

तुलसीदास का रामराज्य संसार के साहित्य में ही नहीं, दर्शन में भी आदर्श-राज्य-चिन्तन के चरम उत्कर्ष का सूचक है। महानतम शासन वह है जो अल्पतम शासन करे। मानवजाति के इतिहास में एक महानतम द्रष्टा महर्षि व्यास आदर्श-राज्य को दण्डविहीन रूप में प्रस्तुत करते हैं। राज्यरहित, राजारहित, दण्डरहित, दण्डदातारहित धर्माधारमय समाज व्यास का आदर्श है। मध्यकाल के व्यास तुलसीदास ने ऐसे ही समाज को रामराज्य के अभिधान में प्रस्तुत किया है :

दंड जतिन कर, भेद जहँ नर्तक नृत्य समाज।
जीतहु मनहि सुनिअ अस, रामचन्द्र के राज ॥

'दण्ड जतिन्ह कर' कोरा अलंकार नहीं है; इसमें राजनीति का परम ध्येय बिम्बत है। आज भी सत्ता का पृथक्करण उन्नत राजनीति का प्रतीक माना जाता है। दण्ड का अधिकार द्रष्टा को, योगी को, यती को प्राप्त होगा तो उसका दुरुपयोग नहीं हो सकता। 'दण्ड जतिन्ह कर' के तीन शब्द प्लेटो के दार्शनिक-राजा वाले गणतन्त्र के सूचक हैं। राजनीति की दिशाएँ चार हैं : साम, दान, दण्ड, भेद :

साम दान अरु दण्ड बिभेदा।
नृप उर बसहिं, नाथ कह बेदा ॥

यथासमय राजनीति को दण्ड और भेद की दिशाओं पर भी गतिशील होना पड़ता है; किन्तु सर्वोच्च कोटि की राजनीति में साम और दान का ही बोलबाला रहता है। दण्डरहित राजनीति सर्वोच्च राजनीति है। दण्डप्रधान राजनीति निम्नतम राजनीति है। दण्ड यदि यती के अधिकार-क्षेत्र में चला जाए तो उसका स्थूल प्रयोग लगभग समाप्त हो सकता है क्योंकि तब उसके दुरुपयोग की सम्भावना नहीं रहेगी, तब मानवीय मूल्यों के अभ्युदय के वातावरण की सृष्टि होगी जिसमें अधोमुखी वृत्तियों को विकसित होने का अवसर ही नहीं प्राप्त होगा। भेद कला की विभूति है। भेदरहित राजनीति उच्चतर राजनीति है। भेद तथा दण्ड से विहीन राजनीति आदर्श राजनीति है। किन्तु इसका प्रयोग तभी सम्भव है जब राजा-प्रजा एकरूप जितेन्द्रिय हों। जो अपने को जीतता है, वह संसार को जीतता है। जहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपने-आपको जीतने में लग जाएगा वहाँ दूसरे को जीतने की द्वितीय-स्तरीय संघर्ष-भावना का लोप अपने-आप हो जाएगा। रामराज्य में जीतने के लिए यदि कोई शत्रु था तो अपना मन। इस स्थिति में वहाँ पूर्ण समता विद्यमान थी; वहाँ विषमता का लोप हो गया था :

बयरु न कर काहू सन कोई।
राम प्रताप विषमता खोई ॥

'राम प्रताप' का वास्तविक अर्थ 'यथा राजा तथा प्रजा' की ओर जाता है। इस स्थिति में :

नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना।
नहिं कोउ अबुध न लच्छनहीना ।।

निर्धनताविहीन, दुःखविहीन, दैन्यविहीन, अशिक्षाविहीन, सुलक्षण समाज। प्लेटो से मार्क्स तक किसी भी पाश्चात्य दार्शनिक के ऐसे महान् समाज की कल्पना नहीं की।

ऐसे समाज का निर्माण अनायास ही नहीं हो सकता। इसके पीछे शासक-शासित की एकरस पवित्रता आवश्यक है। तुलसीदास ने शासक की मर्यादाओं के संकेत यत्र-तत्र-सर्वत्र किए हैं, यथा :

(१) जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी।
सो नृपु अवसि नरक अधिकारी ।।
(२) मुनि तापस जिन्ह के दुखु लहहीं।
ते नरेश बिनु पावक दहहीं ।।
(३) मुखिया मुख सो चाहिए खान पान कहुँ एक।
पालइ-पोषइ सकल अँग तुलसी सहित बिबेक ।।

प्रथम उदाहरण समग्र प्रजा के प्रति शासक के कर्त्तव्य का सूचक है, द्वितीय उदाहरण उच्चतम-पावनतम समाजवर्ग के प्रति शासक के कर्त्तव्य का सूचक है; तृतीय उदाहरण शासक के कर्त्तव्य का निरूपक है। सारी प्रजा सुखी, चिन्तक और तपस्वी प्रसन्न; यह राजनीति का चरम लक्ष्य है। किन्तु, इसकी प्राप्ति तभी हो सकती है जब शासक, समाज-शरीर में मुख-स्थानीय-शासक, मुख-धर्म का पालन करे। मुख सब-कुछ ग्रहण करता है। किसलिए? शरीर को स्वस्थ रखने के लिए। स्वयं वह एक कण तक नहीं रखता। यदि रखता है तो उसे स्वच्छ नहीं माना जाता। यदि रखता है तो उसमें दुर्गन्ध और रोग आवास बना लेते हैं। मुख का धर्म ग्रहण एवं वितरण है, संचय नहीं। राजा का धर्म कर-ग्रहण एवं उसका सदुपयोग है, विलास-व्यय नहीं। राजा का आचरण आदर्श होना ही चाहिए अन्यथा प्रजा आदर्शविहीन हो जाएगी। राम उदार हैं, राम परोपकारी हैं, राम विप्रसेवक हैं, राम एकपत्नीव्रती हैं, सीता पतिव्रता है; तो सब प्रजा उदार है, सब प्रजा परोपकारी है, सब प्रजा विप्रसेवक है, सब पुरुष एकपत्नीव्रती हैं, सब नारियाँ पतिव्रताएँ हैं :

सब उदार सब पर उपकारी।
विप्र चरन सेवक नरनारी ।।
एक नारि व्रत रत सब भारी।
ते मन बच क्रम पति हितकारी ।।

राम राजा हैं, पर सर्वस्वीकृति के साथ, सर्वस्वातन्त्र्य के साथ :

सुनहु सकल पुरजन मम बानी।
कहउँ न कछु ममता उर आनी।
नहिं अनीति नहिं कुछ प्रभुताई।
सुनहु करहु जो तुम्हहि सोहाई।।...
जौं अनीति कछु भाषौं भाई।
तौ मोहि बरजहु भय बिसराई।।

ऐसे राजतन्त्र पर कौन-सा प्रजातन्त्र ईर्ष्या न करेगा ? संसार का कौन-सा प्रजातन्त्र इस आदर्श तक पहुँच सका है ? मार्क्स यदि मानस पढ़ते तो रामराज्य के, गांधी के सदृश, समर्थक और प्रतिपादक बन जाते।

तुलसीदास के आदर्श राज्य में वर्णाश्रम को अपार महत्त्व प्राप्त है। उनका रामराज्य वर्णाश्रम पर आधारित है। रावणराज्य अथवा कलियुग-वर्णन में वे वर्णाश्रम-ह्रास का उल्लेख बारम्बार करते हैं। यह वर्णाश्रम क्या है ? आश्रम का अर्थ है पूर्णव्याप्त श्रम ; आ+श्रम अर्थात् सब ओर श्रम, पूर्णश्रम। इसका व्यक्तिपरक रूप चार भागों में विभक्त है: ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ, संन्यास। सामान्यतः सुसम्भावित शतवर्षीय आयुष्य के ये चार विभाग क्रमशः ज्ञान-स्वास्थ्य-चरित्र-साधना, समाज-साधना, ज्ञान-साधना एवं तप-साधना में विभक्त हैं। सबका आधार कठिन श्रम है। चारों के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध से समाज की महानता सुरक्षित रहती है। आश्रम का समाजपरक रूप भी चार श्रेणियों में विभक्त है; ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र। ऋग्वेद तथा यजुर्वेद के पुरुष-सूक्त के अनुसार इन चारों की सृष्टि एक परमात्मा (पुरुष) के ही शरीर से हुई है। पुरुष-सूक्त संसार में समाजशास्त्र की सबसे महान् उपलब्धि है। यह वस्तुतः समाज-रूपक है। परमात्मा के एक शरीर से उत्पन्न चारों वर्ण मूलतः एक हैं। जिस प्रकार एक शरीर को मुख, बाहु, उदर एवं चरण अपने पृथक्-पृथक् कार्यों द्वारा गतिशील एवं समर्थ रखते हैं, उसी प्रकार एक समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र अपने पृथक्-पृथक् कार्यों द्वारा गतिशील एवं समर्थ बनाते हैं। शरीर का जो भाग जितने ही ऊपर है उसका कर्त्तव्य उतना ही अधिक कठिन है। मुख सब कुछ खाता है, पर एक कण भी पास नहीं रखता। बाहु को कष्ट मिले, उदर को व्यथा हो, पैर को काँटा लगे, तो पीड़ा की अभिव्यक्ति मुख करता है। ऋतु शीत हो या ग्रीष्म, मुख खुला रहता है; अन्य अंग परिधान-सुरक्षित। मुख तपी है। बाहु सर्वाधिक श्रम करता है। मुख पर प्रहार होने की स्थिति में, उदर पर प्रहार होने की स्थिति में, चरण पर प्रहार होने की स्थिति में, बाहु आगे बढ़कर या तो रक्षा करता है या स्वयं ही उसे झेल जाता है या आक्रान्ता पर प्रहार करता है। बाहु रक्षक है। उदर सब कुछ प्राप्त कर तत्काल यथोचित वितरण करता है। यदि वह प्राप्त अधिक तथा वितरण अल्प करता है

तो रुग्ण हो जाता है; यही नहीं, सारे शरीर को कष्ट पहुँचा बैठता है। उदर ग्राहक-वितरक है। चरण सारे शरीर को लक्ष्य तक ले जाने वाला वाहक है। उसकी सबलता सारे शरीर की सबलता की प्रतीक है। सारा शरीर उसका ध्यान रखता है। उसका स्पर्श सम्मान का सूचक माना जाता है। चरण वाहक है। समाज-शरीर में ब्राह्मण विद्या तथा तप का सूचक मुख है; क्षत्रिय शक्ति तथा रक्षा का सूचक बाहु है; वैश्य विनिमय तथा वितरण का सूचक उदर है; शूद्र सरल-श्रम तथा वहन का सूचक चरण है। अतएव वर्णाश्रम-व्यवस्था में वैयक्तिक तथा सामाजिक दर्शन अपने चरमोत्कर्ष को प्राप्त करता है। उसकी परवर्ती विकृतियाँ जाति-पाँति और छुआ-छूत इत्यादि के रूपों में प्रकट हुईं। किन्तु, इनके कारण हम उसे दूषित नहीं कह सकते। औषधि के दुरुपयोग से औषधि का महत्त्व नहीं नष्ट होता। हम आश्रम-व्यवस्था पर न चल सके, हमने उसे स्वार्थ सिद्धि का प्रसाधन बना लिया; किन्तु, इसमें दोष हमारा है। उस पर दोषारोपण हमारे अज्ञान का सूचकमात्र है। प्लेटो से गांधी तक इस व्यवस्था के प्रति सम्मान-भाव के दर्शन किए जा सकते हैं। आश्रम-व्यवस्था का मर्मी अस्पृश्यता की कल्पना भी नहीं कर सकता। जिन परमात्मा के चरणों का वह भक्त है उन्हीं से उद्भूत शूद्र बन्धु का अपमान वह कैसे करेगा? वास्तव में, समाज इस या उस प्रकार से आश्रम-व्यवस्था पर ही चल रहा है। जो लोग आश्रम-व्यवस्था को जन्मस्थिति में जकड़ते हैं वे इसका मर्म नहीं समझते। स्वयं तुलसीदास ने भक्त गुह, केवट, शबरी इत्यादि की प्रशंसा तथा पाखण्डी ब्राह्मणों, उपदेशकों, योगियों इत्यादि की निन्दा की है। तुलसीदास को ठीक-ठीक न पढ़ या समझ पाने के कारण इस विषय में जो निराधार आलोचना होती है उस पर अधिक विचार करना उचित नहीं। तुलसीदास का वर्णाश्रम वेदविहित है, सर्व-जन सुखकारी है, वर्गगत नहीं, संकीर्ण नहीं :

बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहिं नहिं भय सोक न रोग॥

अपने पावनश्रममय कर्त्तव्यपथ पर चलनेवाला व्यक्ति तथा समाज सुखी रहता है, निर्भय रहता है, नीरोग रहता है; इसे धर्म और राजनीति ही नहीं, चिकित्साशास्त्र और मनोविज्ञान भी स्वीकार करते हैं। तुलसीदास इसकी अतीव पावन कल्पना करते हैं :

दैहिक दैविक भौतिक तापा।
रामराज नहिं काहुहि ब्यापा॥

किन्तु, तुलसीदास अपने राजनीति-निरूपण में केवल आदर्शवादी हों, ऐसा नहीं है। वे विपर्यय से भी परिचित हैं। रावणराज्य और कलियुग-वर्णन विकृत राजनीति के दुष्प्रभावों का चित्रण करने में अतुलनीय रूप से सफल सिद्ध होते

हैं। मुस्लिम-शासन में भारत की जो दशा थी उसका चित्रण वे इन्हीं माध्यमों से करते हैं। इन वर्णनों में वे शुद्ध यथार्थवादी हैं :

जेहि विधि होइ धर्म निर्मूला।
सो सब करहिं वेद प्रतिकूला ॥
जेहिं जेहिं देस धेनु द्विज पावहिं।
नगर गाउँ पुर आगि लगावहिं ॥
सुभ आचरन कतहुँ नहिं होई।
देव बिप्र गुरु मान न कोई ॥
बाढ़े खल बहु चोर जुआरा।
जे लंपट परधन परदारा ॥
मानहिं मातु पिता नहिं देवा।
साधुन्ह सन करवावहिं सेवा ॥

अथवा

कलिमल ग्रसे धर्म सब लुप्त भए सद्ग्रन्थ।
दम्भिन्ह निज मति कल्पि करि प्रगट किए बहु पंथ ॥···
बरन-धर्म नहिं आश्रम चारी।
श्रुति-बिरोधरत सब नर नारी ॥
द्विजु श्रुतिबेचक भूप प्रजासन।
कोउ नहिं मान निगम अनुसासन ॥
मारग सोइ जा कहुँ जोइ भावा।
पण्डित सोइ जो गाल बजावा ॥···

उपर्युक्त उद्धरण स्पष्ट करते हैं कि तुलसीदास किसी वर्गविशेष के साथ पक्षपात नहीं करते। उन्होंने स्थान-स्थान पर पाखण्डी और निर्बुद्धि ब्राह्मणों की निन्दा की है। निस्सन्देह, कतिपय स्थलों पर उन्होंने ब्राह्मणों की स्तुति तथा प्रशंसा भी कीहै। किन्तु ब्राह्मणों की ऐसी प्रशंसा बुद्ध ने की है, मेगस्थनीज़ ने की है, ह्वेन्सांग ने की है, अमीर खुसरो ने की है, प्रसाद ने की है। हाँ, एकाध स्थलों पर वे शूद्रों के प्रति कठोर हो गए हैं। इसका कारण मध्यकालीन, तप-विहीन-अध्ययनरहित अहंब्रह्मास्मिवाद के पाखण्ड की प्रतिक्रिया मात्र है। फिर भी यदि वे इस प्रकार कठोर न होते तो अच्छा रहता। तुलसी ने राजनीति में यथार्थ का अंकन यत्र-तत्र-सर्वत्र किया है :

(१) सप्तदीप भुजबल बस कीन्हें।
लै लै दण्ड छाड़ि नृप दीन्हे ॥
(२) रिपु तेजसी अकेल अपि लघु करि गनिय न ताहि ॥
(३) ·········रिपु पर कृपा परम कदराई ॥

(४) सचिव, बैद, गुर, तीनि जौं प्रिय बोलहिं भय आस।
राज, धर्म, तन, तीनि कर होइ बेगि हीं नास।।

भारतीय राजनीति सदैव, साम्राज्य पर नहीं, सुराज्य पर विश्वास रखती आई है। बहुत विस्तृत साम्राज्य सुशासित नहीं रह पाता। इतिहास साक्षी है कि बहुत विस्तृत साम्राज्य अपने ऊपरी ऐश्वर्य के बावजूद अन्दर से खोखले रहे, अर्थात् उनमें प्रजा बहुत सुखी नहीं रही, और वे जनता की सहानुभूति न प्राप्त कर सकने के कारण अचानक ढह गए। इसके विपरीत सुराज्य प्राप्त कर छोटे-छोटे भूखण्ड भी मानवता का विकास करने में अतीव सहायक सिद्ध हुए। पिछले ढाई हजार सालों में भारतीय जनता के सबसे प्यारे शासक अपेक्षाकृत छोटे भूखण्डों के राजा रहे हैं, राजा विक्रमादित्य और राजा भोज जनता में विशाल साम्राज्यों के सम्राट् अशोक और बादशाह अकबर से अधिक सम्मानित रहे हैं; साहित्य केवल उन्हीं पर रीझा है। दक्षिण में चोल-राज्य और विजयनगर-राज्य इस तथ्य के दो अन्य प्रसिद्ध उदाहरण हैं। सम्प्रति विशालतम राष्ट्रों में प्रचलित संघीय प्रणाली मानव जाति के इसी अनुभव की सिद्धि है। भारतीय राजनीति की परम्परा सुशासन की रही है, साम्राज्य-विस्तार की नहीं। राम इसके महानतम निदर्शन हैं। राम, रामपुत्रों, रामानुजों तथा उनकी सन्तानों ने प्रायः सम्पूर्ण भारतीय उपमहाद्वीप पर प्रत्यक्ष तथा इससे बाहर के अनेकानेक क्षेत्रों पर परोक्ष प्रभावसत्ता स्थापित कर ली थी, किन्तु उन्होंने साम्राज्यवादी लिप्सा का किञ्चिन्मात्र परिचय कहीं भी नहीं दिया था। शत्रुघ्न ने मथुरा, लव ने लवपुर (लाहौर), कुश ने कुशपुर (कसूर), भरत ने पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त (वर्तमान पाकिस्तान के सीमा-क्षेत्र), भरत पुत्र तक्ष ने तक्षशिला इत्यादि तक विजयश्री प्राप्त की थी। जनकपुर (नेपाल), किष्किन्धा (मैसूर तथा तमिलनाडु के अंचलों) तथा लंका इत्यादि के शासक अयोध्या के शासक के सम्बन्धी अथवा मित्र थे। राम के पावन नाम का प्रभाव आज भी रामसर (ईरान), राम-अल्लाह (जॉर्डन) तथा रॉमा (रोम) इत्यादि तक देखा जा सकता है। लावोस (लव का देश) तथा कम्बुज (अगस्त्य का देश) इत्यादि तक राम का पावन प्रभाव आज भी प्रकटतः दृश्य है। किन्तु राम ने साम्राज्यवाद की महत्त्वाकांक्षा का अणु मात्र परिचय नहीं दिया; उन्होंने सम्बन्धियों के राज्यों पर दृष्टि तक नहीं डाली, मित्रों के राज्यों पर दृष्टि तक नहीं डाली, स्वयं अपने राज्य को स्वपुत्रों, बन्धुओं तथा बन्धुपुत्रों में शासन सुविधार्थ विभक्त कर दिया। वे स्वयं अयोध्या से सन्तुष्ट रहे। परवर्ती गुप्त काल में भी राम के पदचिह्नों का अनुसरण किया गया। महान् विजेता सम्राट् समुद्रगुप्त ने अपने विजित राजाओं को करद बनाते हुए मुक्त कर दिया था। इसीलिए, गुप्तकाल भारतीय इतिहास का स्वर्ण-काल बन सका। इसीलिए, गुप्तकाल अधिक टिक सका। इसीलिए, गुप्तकाल

भारत और उसकी संस्कृति को सर्वाधिक प्रभावित कर सका। मौर्य-साम्राज्य अतीव सुदृढ़ था, किन्तु अतीव विशाल भी; उसका अभ्युदय और अन्त स्वप्न के सदृश त्वरित गति से हो गया। मुग़ल साम्राज्य अतीव विशाल था; उसमें प्रजा के क्लेशों का कहीं अन्त न था। एक ओर अपार ऐश्वर्य, विलास, भोग, सत्ता-लिप्सा इत्यादि-इत्यादि और दूसरी ओर बेकारी, अकाल, भुखमरी, महामारी इत्यादि मुग़ल-इतिहास पर आदि से अन्त तक छाए रहे। अन्त में लूट, ठगी अर्थात् अराजकता इत्यादि तत्त्व और जुड़ गए। परिणाम यह हुआ कि वह असली प्रभाव सौ वर्ष के आसपास ही रख पाया और कालान्तर में ताश के पत्तों के महल की तरह ढह गिरा। उसके अन्त पर किसी ने आँसू भी न बहाए! संसार में अन्यत्र भी विशाल साम्राज्यों के अत्याचार कुशासनपरक निदर्शन प्राप्त होते हैं। सुमेर साम्राज्य, रोमन-साम्राज्य, ख़लीफाई-साम्राज्य, पवित्र-रोमन-साम्राज्य, ब्रिटिश, फ्रेंच साम्राज्य अपने-अपने अत्याचारों के लिए कुख्यात हैं। इनके शासनकालों में सम्बद्ध परतन्त्र देश अन्धकारपूर्ण जीवनयापन करते रहे। इनकी शानोशौकत से इन्सानियत की कोई भलाई नहीं हुई। इनकी मौतों पर किसी ने दो आँसू भी नहीं बहाए। इनकी मौतों से इन्सानियत खुशी से नाच उठी। विशाल साम्राज्य अहंवाद मात्र के अनुकूल है। अतएव, तुलसीदास ने प्रतापभानु का आदर्श 'लै लै दण्ड छाड़ि नृप दीन्हें' बतलाया है; उनके साम्राज्य का उल्लेख कुछ शब्दों में किया है। उनके सुशासन का उल्लेख विस्तार से किया है।

शत्रु को लघु समझना राजनीति में शुद्ध मौर्ख्य के अतिरिक्त कुछ नहीं माना जा सकता। शत्रु अकेला हो तो भी उसकी उपेक्षा न करनी चाहिए। शत्रु का विनाश राजनीति का एक अतीव महत्त्वपूर्ण ध्येय है। प्रतापभानु का विनाश शत्रुनाश पर सम्यक् ध्यान न देने से हुआ। 'रिपु तेजसी अकेल अपि लघु करि गनिय न ताहि'। पृथ्वीराज ने परास्त शत्रु को समाप्त न करने की मूर्खता की थी; वे डूबे, देश को भी ले डूबे। सन् १९७१ ई० के ऐतिहासिक भारत पाक युद्ध में, बाहरी दबावों के कारण ही सही, भारत शत्रु को, अवसर होते हुए भी, करारी मार न दे सका; परिणाम भविष्य बताएगा। राजनीति के महान् आचार्य चाणक्य कहते हैं, पड़ोसी देश को कभी शक्तिशाली न होने दो। तुलसीदास ने इसी व्यावहारिक आदर्श को उपर्युक्त रूप में प्रस्तुत किया है।

शत्रु पर कृपा सबसे बड़ी कायरता है: 'रिपु पर कृपा परम कदराई'। यह वाक्यांश तुलसीदास ने स्वयं राम से कहलाया है। वीर का धर्म शत्रु का विनाश है। शत्रु, चाहे पितामह हो या आचार्य या बन्धु या सुहृद्, वध्य है; कृष्ण ने यही उपदेश दिया है। इस प्रसंग में कृपा कायरता है, मोह है! राजनीति हृदय-तरंगों पर नहीं, कठोर सत्यों पर चलती है। कायरता शत्रु के विनाश में असमर्थ

होने के कारण कृपा का नाटक रचती है। वीरता उसके विनाश के कठोर कर्त्तव्य को पूर्ण करती है। स्वतन्त्र भारत का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है। भारत आर्थिक दृष्टि से निर्धन और सैनिक दृष्टि से दुर्बल रहा; अतएव, उसे, वस्तुतः बाहरी आतंकों और दबावों के कारण, विशेषतः पाकिस्तान के प्रसंगों में, बारम्बार 'कृपा' का नाटक रचना पड़ा। जिसका दिल मोम की तरह नरम हो, जो इन्सानी जज़्बात में बाग़-बाग़ होता रहता हो, उसके लिए फ़क़ीरी से शायरी तक के मैदान खुले पड़े हैं। राजनीति में वह क्यों आता है? तुलसीदास ऐसे पाखण्ड के प्रखर आलोचक थे। इस आलोचना का कारण उनका महान् जीवन, अपार अध्ययन तथा स्वच्छ-स्वस्थ चिन्तन-मनन था।

राजनीति में स्वेच्छाचार के निदर्शन प्रायः दृष्टिगोचर होते रहते हैं। आज भी, ब्रिटेन तथा स्विट्ज़रलैण्ड जैसे कुछ देशों के अतिरिक्त सर्वत्र राजनीति में व्यक्तिगत अथवा दलगत स्वेच्छाचार के दर्शन अनायास ही हो जाते हैं। स्वेच्छाचार महत्त्वाकांक्षा का प्रमुख दौर्बल्य है। राजनीति में प्रायः महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति ही जाते और सफल होते हैं। किन्तु, जहाँ वे स्वेछाचार की सीमा का अतिक्रमण करते हैं, उनका विनाश हो जाता है। रावण से हिटलर तक, नीरो से नैपोलिअन तक स्वेच्छाचार की असफलता के अनेक प्रकार के विनाश-निदर्शन इतिहास में भरे पड़े हैं। मध्यकाल विशेष रूप से राजनीति में स्वेच्छाचार का अन्धकारपूर्ण काल था। उसमें मन्त्री इत्यादि प्रायशः सम्राट् या राजा की हाँ-में-हाँ मिलाते रहते थे। जो न मिलाते थे उनको मौत के घाट उतार दिया जाता था। परिणाम जनता को भुगतने पड़ते थे। किन्तु परिणाम की व्यापक अग्नि में कभी-कभी स्वयं सम्राट् या राजा भी जल कर राख हो जाते थे। मन्त्री का कार्य मन्त्रणा देना है, चाटुकारिता करना नहीं। भय और मन्त्रणा परस्पर विरोधी वस्तुएँ हैं। निर्भीक मन्त्री ही वास्तविक मन्त्री है, भयभीत मन्त्री चाटुकार मात्र है। राजनीति के इस चिरन्तन सत्य को तुलसीदास ने सचिव के भय-मूलक प्रिय वचन को राज-विनाशकारी प्रभाव के रूप में चित्रित किया है। एक ओर रावण के आतंक और दूसरी ओर राम के विनय को चित्रित कर तुलसीदास ने राजनीति के अधोगामी और ऊर्ध्वगामी दोनों रूपों को स्पष्ट कर दिया है।

मानव एक है; उसकी सबलता एक है, उसकी दुर्बलता एक है। राजतन्त्र हो या प्रजातन्त्र या अन्य तन्त्र, उसकी महानता या हीनता मानव की महानता या हीनता पर निर्भर करती है। इतिहास में राजतन्त्र के कुछ ऐसे पावन निदर्शक प्राप्त होते हैं जिनसे प्रजातन्त्र प्रेरणा प्राप्त कर सकता है। दूसरी ओर ब्रिटेन, स्विट्ज़रलैण्ड इत्यादि में प्रजातन्त्र को देखकर मन खुशी से भर जाता है। शासन का तन्त्र नहीं, शासन का यन्त्र महान् है। शासन का तन्त्र नहीं, शासन का मन्त्र

महान् है। अतएव, तुलसीदास का राजनीति-निरूपण आज भी उतना ही उपयोगी हो सकता है जितना कभी हो सकता था या कभी हो सकेगा। मानस और दोहावली में तुलसीदास का राजनीति-निरूपण उनको, व्यास के सदृश, एक महर्षि के रूप में प्रस्तुत करता है। मानस में तुलसीदास का राजनीति-निरूपण उनको, प्लेटो के सदृश, एक दार्शनिक के रूप में प्रस्तुत करता है।

१०

रामचरितमानस में अलंकार

गोस्वामी तुलसीदास की कविता-रचना का प्रधान उद्देश्य रामभक्ति का प्रचार-प्रसार है। यही उनके 'स्वान्तः सुखाय' का अर्थ है; यही उनके 'स्वान्तस्तमः शान्तए' का अर्थ है। किन्तु उन्होंने पुराणों, शास्त्रों, महाकाव्यों इत्यादि का अनुशीलन किया था। वे अलंकारशास्त्र में निष्णात् थे। वे अलंकारों के सम्यक् प्रयोग में भी सक्षम थे। इन कथनों का प्रमाण उनके सारे ग्रंथ हैं। अतएव उनका अलंकार-सामर्थ्य भी अद्वितीय है। किन्तु, यह सामर्थ्य सर्वत्र सहज है। यह कहीं भी कृत्रिम नहीं होने पाया। संसार के किसी कवि ने अलंकारों का इतना और ऐसा प्रयोग नहीं किया जितना और जैसा तुलसीदास ने। रामचरितमानस, विनयपत्रिका, कवितावली और गीतावली का सम्मिलित अलंकार-सामर्थ्य समग्र संसार में अतुलनीय है। बरवैरामायण जैसी लघु पुस्तिका भी तुलसीदास के महान् अलंकार-कौशल की सूचना देने में सफल सिद्ध हो जाती है। तुलसीदास अलंकारों के सहज प्रयोग के प्रतीक-कवि माने जा सकते हैं।

रामचरितमानस अलंकारों का विश्वकोश है। साम्यमूलक, विरोधमूलक तथा संसर्गमूलक, सभी प्रकार के अलंकारों का सहज प्रयोग यदि एक ही काव्य में देखना हो तो मानस से अधिक उपयुक्त ग्रंथ कोई नहीं मिल सकता। मानस में अनेक स्थल ऐसे हैं जिनमें सामान्य पाठक को ही नहीं, अच्छे-खासे पण्डित को भी वर्णन सहज-सरस तो लगते हैं किन्तु अलंकारसम्पन्न नहीं, यद्यपि उनमें अलंकार भरे होते हैं। यही अलंकारों का सम्यक् प्रयोग है। उदाहरणार्थ, मिश्रबन्धु ने अपने महान् ग्रंथ 'विनोद' में निम्नलिखित दो चौपाइयों में सम्बन्धातिशयोक्ति, द्वितीय अर्थान्तरन्यास, सार, पदार्थवृत्ति दीपक, काकु, उदात्त, वृत्यनुप्रास, वीप्सा, चतुर्थ प्रदीप, अधिक अभेद रूपक, समुच्चय, विकस्वर और अप्रस्तुत-प्रशंसा अर्थात् तेरह अलंकारों का उल्लेख किया है :

जे पुर गाँव बसहिं मग माहीं।
तिन्हहिं नाग सुर नगर सिहाहीं॥
केहि सुकृती केहि घरी बसाए।
धन्य पुन्यमय परम सुहाए॥

जहँ-जहँ रामचरन चलि जाहीं।
तिन्ह समान अमरावति नाहीं॥
पुन्यपुंज मग निकट निवासी।
तिन्हहिं सराहहिं सुरपुर बासी॥

वे लिखते हैं, "दो छन्दों में साहित्य के दस गुणों में से श्लेष, माधुर्य और ओज छोड़कर सभी वर्तमान हैं। इतने गुणों का एक स्थान पर मिलना प्राय: असम्भव है।" साधारण पाठक तो क्या, अच्छा पण्डित भी, उक्त दो चौपाइयों में दो-चार अलंकार ढूंढ़ ले तो प्रसन्न होकर आगे बढ़ जाएगा। वह कल्पना भी नहीं कर सकेगा कि मिश्रबन्धु ने अपने 'विनोद' में इन पर ये शब्द लिखे हैं, "उनमें जितना साहित्य का सार कूट-कूट कर भरा है उतना शायद संसार-साहित्य की किसी भाषा के किसी पद्य में कभी न पाया जायगा। जहाँ तक हम लोगों ने कविता देखी या सुनी है इन पंक्तियों का सा स्वाद क्या अंग्रेजी, क्या फारसी, क्या हिन्दी, क्या उर्दू, क्या संस्कृत, किसी भी भाषा में नहीं पाया।" इसमें सन्देह नहीं कि अयोध्याकांड की कविता अपने सहज सौंदर्य में अद्वितीय है। अयोध्याकांड रामचरितमानस का हृदय है। मिश्रबन्धु न प्राध्यापक थे, न अर्थ-मूलक आलोचक; वे शुद्ध काव्यरसिक थे। अतएव उनकी आलोचना सहजा-लोचना है। वे तीन भाई थे; तीनों ही पण्डित। तीनों में पूर्ण संगति थी। उनका परिवार अतीव कुलीन और सम्पन्न था। उन्होंने सहस्रों मुद्राओं का व्यय करके हिन्दी आलोचना की सेवा की थी। अतएव, उनकी इस प्रशंसा को अतिशयोक्ति कहकर टालना ठीक न होगा। जिस प्रकार का अलंकार-अवगाहन उन्होंने किया है, उस प्रकार का किसी अन्य व्यक्ति या व्यक्तियों ने नहीं। उनके उक्त उद्धरणों से मानस के अलंकार-सामर्थ्य तथा काव्यसौष्ठव को समझने में बहुत सहायता मिलती है। आज जब मानस में अलंकार विषय पर डी० लिट्० का प्रबन्ध तक रचा जा चुका है तब भी उनके प्रयास का महत्व अपना उपमान आप ही बना हुआ है।

मानस का अलंकार-सामर्थ्य इतना विराट्, इतना विशद, इतना गहन है कि उस पर कई ग्रंथ रचे जा सकते हैं। उसके समग्र अलंकारों का विवेचन एक व्यक्ति या एक ग्रंथ के बूते की बात नहीं। 'रामचरितमानस के रूपक', 'रामचरितमानस की लोकोक्तियाँ', रामचरितमानस के दृष्टान्त', 'रामचरितमानस की अति-शयोक्तियाँ', 'रामचरितमानस में वक्रोक्ति' तथा 'रामचरितमानस में अनुप्रास' तो ग्रंथ से कम के विषय हैं ही नहीं। 'रामचरितमानस में साम्यमूलक अलंकार', 'रामचरितमानस में विरोधमूलक अलंकार' तथा 'रामचरितमानस में संसर्गमूलक अलकार' जातिगत ग्रंथ होंगे। प्रसिद्ध आलोचक स्वर्गीय पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'गोस्वामी तुलसीदास' शीर्षक लघु किन्तु विद्वत्तापूर्ण ग्रंथ के 'अलंकार-

विधान' शीर्षक निबन्ध में महाकवि के अलंकारों को चार वर्गों में विभक्त किया है, (१) भावों की उत्कर्ष-व्यंजना में सहायक अलंकार, (२) रूप का अनुभव तीव्र करने में सहायक अलंकार, (३) क्रिया का अनुभव तीव्र करने में सहायक अलंकार, और (४) गुण का अनुभव तीव्र करने में सहायक अलंकार। इस आधार पर 'रामचरितमानस में भाव,रूप, क्रिया तथा गुण का सहायक अलंकार-विधान' जैसा ग्रंथ लिखा जा सकता है। यद्यपि शुक्ल जी का छोटा निबन्ध आरम्भिक स्तर का है तथा इतने पर भी तुलसीदास के अनेक ग्रन्थों तक प्रसरित है तथापि उनका विवेचन महत्त्वपूर्ण है। इसे शुक्ल जी की वर्गीकरण-वृत्ति का सूचक मात्र मानना उचित न होगा। यह सब मैंने विषय की व्यापकता को स्पष्ट करने के लिए लिखा है। मेरे इस छोटे-से निबन्ध में तो केवल थोड़ा-सा विवेचन मात्र सम्भव है।

तुलसीदास का सर्वप्रिय अलंकार रूपक है। रूपक एक विशद अलंकार है। निरंग रूपक इसका सामान्यतम भेद है, जो उपमा के निकट होता है, उत्प्रेक्षा के निकटतर। महाकवि की रुचि इस भेद पर अपेक्षाकृत कम रीझी है। यह उसके विराट् भाव के लिए लघु भी है। परम्परित रूपक एक प्रकार का कलात्मक विश्लेषण होता है। इसकी शृंखला में सागर गागर में समा सकता है। तुलसीदास संसार-साहित्य में परम्परित रूपक के सर्वोत्तम कवि हैं। मानस और विनयपत्रिका में उन्होंने परम्परित रूपकों की जैसी विशद मालाएँ प्रस्तुत की हैं वैसी अन्यत्र कहीं नहीं मिलेंगी। बालकांड के रामकथा-माहात्म्य में इस तथ्य के उत्तम दर्शन किए जा सकते हैं। किन्तु, तुलसीदास की महतोमहीयान् उपलब्धि है सांगरूपक रूपक-सम्राट् तुलसीदास के सांगरूपक संसार-साहित्य में अतुलनीय हैं। सांग-रूपक का सफल निर्वाह उच्चतम प्रतिभा की अपेक्षा रखता है। उपमेय-उपमान की जातिगत-गुणगत, प्रकृतिगत संगति की सिद्धि महानतम कवि को ही प्राप्त हो पाती है। तुलसीदास के सांगरूपक विस्मयाविष्टता के निलय हैं। उदात्त का जैसा भव्य रूप उनमें प्राप्त होता है वैसा मिल्टन के वर्णनों में भी कहीं-कहीं प्राप्त हो सकता है। रामचरितमानस के बालकांड का मानस-रूपक संसार-साहित्य का सर्वश्रेष्ठ रूपक है। ग्रन्थ और मानस की संगति का जैसा व्यापक निर्वाह इस अतीव महान् रूपक में दृग्गत होता है, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं। इस रूपक पर मानव जाति गर्व कर सकती है क्योंकि यह उसकी अलौकिक प्रतिभा का एक अन्यतम निदर्शन है। रामचरितमानस का जैसा परिचय यह रूपक दे सकता है वैसा एक बृहत् ग्रन्थ भी नहीं। मानस-रूपक प्रतिभा का आत्मपरिचय है। इस रूपक की व्यापकता और उसका आद्यन्त निर्वाह दोनों ही विस्मयकारी हैं। मौलिकता इस रूपक की ज्योति है। लंकाकांड का रथ-रूपक भी विश्व-स्तर का है, प्रशान्त, गहन, पावन। किन्तु इन्द्रियों तथा मन से सम्बद्ध रूपक संस्कृत-

साहित्य में अन्यत्र भी प्राप्त हो जाते हैं। इस कथन का अभिप्राय यह नहीं है कि रथ-रूपक अनुवाद अथवा छायानुवाद है। इसका अभिप्राय केवल इतना है कि इस रूपक की मौलिकता का क्षेत्र सीमित है। उत्तरकांड का ज्ञानदीप-रूपक एक महान् उपलब्धि है; विश्वस्तरीय! इसका गाम्भीर्य, सूक्ष्म पर्यवेक्षण, निर्वाह, सभी कुछ अतीव उदात्त है। मानस-रूपक, ज्ञानदीप-रूपक और रथ-रूपक संसार-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ रूपकों में स्थान प्राप्त करने के अधिकारी हैं। तुलसीदास के ये सर्वश्रेष्ठ रूपक हिन्दी-साहित्य में अतुलनीय हैं। इसके अतिरिक्त भी, तुलसीदास ने ऐसे अनेक रूपक रचे हैं जो 'महान्' के अतिरिक्त किसी अन्य विशेषण के वश में नहीं आ सकते। बालकांड के साधुसमाज-प्रयाग-रूपक और मंच-उदयाचल रूपक, उत्तरकांड का भक्ति-चिन्तामणि-रूपक और कथासुधा-रूपक इत्यादि इस कथन के कुछ प्रमाण हैं। सांगरूपक की रचना में तुलसीदास की प्रतिभा इतनी सिद्ध है कि कहीं-कहीं एक अर्द्धाली में भी वह इसको मनोमुग्धकारी रूप में प्रस्तुत कर देती है।

रूपक के पश्चात् मानस का महान् अलंकार-सामर्थ्य उपमा में सर्वाधिक प्रभावी दृष्टिगोचर होता है। महाकवि ने महाकाव्य के उपमा-वैभव का संकेत स्वयं दे दिया है :

राम सीय जल सलिल सुधा सम।
उपमा बीचि बिलास मनोरम॥

तुलसी, सूर के सदृश, उत्प्रेक्षा को भी उपमा मानते थे; यह तथ्य अनेक स्थलों पर स्पष्ट शब्दों में अंकित है। सम्भवतः उदाहरण को भी वे उपमा के अन्तर्गत ही समझते थे। ऐसा उचित भी है, भले ही वर्तमान विवेचन-प्रणाली भिन्न पथ पर चलती हो। मानस में शत-शत उपमाओं के दर्शन अनायास ही किए जा सकते हैं। बालकांड के खल-स्वभाव-वर्णन राम-नाम माहात्म्य और किष्किधा-कांड के प्रकृति-वर्णन में उपमाओं की जैसी मालाएँ देखने को मिलती हैं, वैसी संसार-साहित्य में बहुत कम ही मिल पाएँगी। तुलसीदास की अधिकांश उपमाओं में संगति का निर्वाह अतीव सफल सिद्ध होता है। भारतीय साहित्य में उपमा की दृष्टि से उनकी तुलना केवल कालिदास से की जा सकती है।

रूपक और उपमा के पश्चात् मानस में तुलसीदास का अलंकार-सामर्थ्य स्वभावोक्ति और दृष्टान्त में सर्वाधिक प्रभावी दृष्टिगोचर होता है। स्वभावोक्ति तुलसीदास में अलंकार लगती ही नहीं। उनको पाकर वह अनुभूति की सहज विभूति ही बन गई है। दृष्टान्त तुलसीदास की वाणी का स्वाभाविक अंग बन गया है। जितने दृष्टान्त मानस में मिलते हैं, उतने किसी ग्रन्थ में नहीं। लोकोक्ति अथवा अर्थान्तरन्यास के प्रयोग में तुलसीदास कालिदास और शेक्सपीअर की समता करते हैं। तुलसीदास की अतिशयोक्तियाँ अतीव मनोहारी हैं। वे उनकी

महान् भावुकता की सूचना देती हैं। यद्यपि जायसी और मंझन इत्यादि सूफ़ी कवियों ने कहीं-कहीं बहुत सुन्दर अतिशयोक्तियाँ लिखी हैं तथापि तुलसीदास की कोई समता नहीं। उनकी अतिशयोक्तियों में बिहारी अथवा भूषण का जैसा चमत्कार नहीं, अनुभूति का उदात्त तत्त्व प्राप्त होता है, जो हृदय को श्रद्धा-समन्वित विस्मय से अभिभूत कर लेता है। गोस्वामी जी ने वक्रोक्ति के बहुत अधिक प्रयोग नहीं किए, किन्तु जो किए हैं उन पर एक छोटी पर अच्छी पुस्तक लिखी जा सकती है। शब्दालंकारों के प्रयोग में उनकी विशेष रुचि न थी। किन्तु, अनुप्रास के प्रयोग में उन्होंने यत्र-तत्र अच्छी सफलता प्राप्त की है। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने उन्हें अनुप्रास का 'बादशाह' कहा है। मानस में अनुप्रास का प्रयोग अपेक्षाकृत अल्प है। विनयपत्रिका और कवितावली में इस अलंकार के बड़े ही प्रभावी दर्शन होते हैं। अनुप्रास के प्रयोग में तुलसीदास केशवदास, भूषण और पद्माकर की समता करते हैं। जहाँ तक अलंकारों की संख्या का सम्बन्ध है, तुलसीदास की अद्वितीयता सर्वविदित हो चुकी है। अस्तु।

तुलसीदास की कविता में यत्र-तत्र वर्णक्रम ऐसे ध्वन्यात्मक चारुत्व से ओत-प्रोत मिलता है, जिसके लिए मैं ध्वनि-बिम्ब शब्द का प्रयोग कर रहा हूँ। ध्वनि-बिम्ब अपने अभिधान में ही अलंकार है। ज्यों ही ध्वनि-बोध हुआ, त्यों ही सम्बद्ध बिम्ब साकार हो गया। ध्वनि-बोध सुनकर भी हो सकता है, पढ़कर भी। बिम्ब भाव का भी हो सकता है, वस्तु का भी। यह ध्वनिबिम्ब अलंकार पाश्चात्य ओनोमोटोपोईया और एस्सोनैन्सी के यत्किञ्चित् निकट भी है, यत्किञ्चित भिन्न भी। ओनोमैटोपोईया ध्वनि-वस्तु-संगति और एस्सोनैन्सी ध्वनि-पुनरावृत्ति को कहते हैं, किन्तु ध्वनिबिम्ब में ध्वनि-वस्तु-संगति और ध्वनि-पुनरावृत्ति के साथ-साथ चित्रोपमता भी विद्यमान रहती है। ध्वनिबिम्ब एक निराला भाव कला-पक्ष-समन्वित अलंकार है। तुलसीदास ध्वनि-बिम्ब के महान् कलाकार हैं। उनके ध्वनिबिम्ब मूक के मिष्ठान्न-प्रयोग हैं, अनिर्वचनीय हैं। यथा :

(१) सिवहि बिलोकि ससंकेउ मारू।

(२) बिकसे सरन्हि बहु कंज गुंजत पुंज मंजुल मधुकरा।

(३) कुसुमित बिबिध बिटप बहुरंगा।
कूजहिं कोकिल गुंजहिं भृंगा।।

(४) घुरघुरात हम आरौं पाएँ।
चकित बिलोकत कान उठाएँ।।

(५) चपरि चलेउ हय सुटुकि नृप हाँकि न होइ निबाहु।

(६) गुंजत मंजु मत्त रस भृंगा।
कूजत कल बहुबरन बिहंगा।।

(७) चातक कोकिल कीर चकोरा।
कूजत बिहग नटत कल मोरा ।।

(८) कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि।
कहत लखन सन राम हृदय गुनि ।।

(९) मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्हीं।
मनसा विश्वविजय कहँ कीन्हीं ।।

(१०) सुनि केवट के बैन प्रेम लपेटे अटपटे।

(११) घन घमंड नभ गरजत घोरा।
प्रिया हीन डरपत मन मोरा ।।

(१२) सुनि भुसुंडि के वचन सुहाए।
हरषित खगपति पंख फुलाए ।।

तुलसीदास की कतिपय उपमेय-उपमान-धर्मविपर्ययाभासयुक्त उपमाओं की समीक्षा करते हुए पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है, "दो-एक जगह ऐसे उपमान भी मिलते हैं, जिनमें कवि के अभिप्रेत विषय में तो सादृश्य है, पर शेष विषयों में इतना अधिक असादृश्य है कि उपमान की हीनता खटकती है; जैसे

सेवहिं लषन सीय रघबीरहिं।
जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहिं ।।

पर कहीं-कहीं इस हीनता को कुछ अपने ऊपर लेकर गोस्वामी जी ने उसका सारा दोष हर लिया है :

कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर, प्रिय लागहु मोंहि राम ।।"

शुक्ल जी को ऐसी उपमाओं के उपमानों में 'हीनता' का आभास अभिधा में आबद्ध हो जाने के कारण हुआ है। यदि वे लक्षणा-व्यंजना पर ध्यान देते तो इन उपमानों पर मुग्ध हुए बिना न रह पाते। "अभिधा उत्तम काव्य हैं" कहने वाले देव पर वे बेतरह बरस पड़े हैं, लक्षणा और व्यंजना के लिए उन्होंने घन आनन्द की स्तुति के पुलिन्दे बाँध डाले हैं, पंत की प्रशंसा कर दी है, पर यहाँ वे गपचा खा गए। "जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहिं" का उपमान लक्ष्मण की राम-सीता के प्रति भावना की तन्मयता अद्वितीय रूप से व्यञ्जित कर देता है। विवेक का अर्थ है ज्ञान-अज्ञान-समन्वित विश्व में ज्ञान की प्राप्ति; दो में एक। विवेकी केवल ब्रह्म में लीन रहता है, अविवेकी शरीर को सत्य मान कर उसी को चरम लक्ष्य समझ बैठता है। वह शरीर के लिए सब-कुछ कर सकता है। विपर्ययसम्पन्न-उपमान के द्वारा तुलसीदास ने यहाँ व्यञ्जना भर दी। "विवेकी पुरुष की ब्रह्म

सेवा के सदृश लक्ष्मण रामसीता की सेवा करते हैं" जैसा प्रयोग यहाँ एकदम मामूली रह जाता। उसके द्वारा लक्ष्मण की एकनिष्ठ सेवा-भावना का विशिष्ट बोध हो ही न पाता। ब्रह्म दृश्य नहीं है, उपमान के साधारणीकरण में वह तलस्पर्शी साफल्य नहीं प्राप्त कर सकता। इसी प्रकार, "कामिहि नारि पियारि जिमि" तथा "लोभिहि प्रिय जिमि दाम" की महान् उपमाओं में तुलसीदास की महान् भावुकता व्यञ्जित हुई है। नारी प्रत्यक्ष आकर्षण का विषय है! "नारि विष्नु माया प्रगट"। उसके लिए उसकी कामना करने वाला पुरुष प्राण तक दे देता है। अतएव, इस उपमान के द्वारा तुलसीदास की राम के प्रति प्रेम की तीव्रतम अनुभूति अनायास प्रकट हो गई है। "लोभिहि प्रिय जिमि दाम" में भी ऐसा ही हुआ है। लोभी अर्थ के लिए सुख, भोग, ख्याति, यदा-कदा जीवन तक, की बलि चढ़ा देता है। तुलसीदास उसकी-सी तीव्रतम आसक्ति के साथ-साथ राम को प्रेम करना चाहते हैं। आश्चर्य है, 'लोभ और प्रीति' जैसे अनूठे निबन्ध का लेखक इन उपमानों की महानता न समझ सका! तुलसीदास एक महानतम कलाकार थे। महानतम कलाकार स्वभाव से ही मुक्त होता है, स्वच्छन्द होता है। उनकी मुक्ति उनकी स्वच्छन्दता मानस में भरी पड़ी है। कहीं उपर्युक्त उपमान मिलते हैं, कहीं "अघ-खग-बधिक" का प्रयोग मिलता है, कहीं "अध-खग-बाजः" का। प्रतिभा की प्रकृति को न समझने पर ऐसे स्थल विचित्र अथवा हीन लग सकते हैं। किन्तु यह कवि की नहीं, आलोचक की सीमा है। मानस की भाषा पर विवेचन करते समय भी ऐसी सीमा की परिधि में ग्रीब्ज़ तथा हनुमानप्रसाद पोद्दार जैसे तपे हुए विद्वान् तक आ गए हैं। स्वच्छन्दता कला की ज्योति है। स्वचछन्दता कला की प्रगति का चिह्न है।

११

दोहावली

दोहावली भक्ति-नीति-काव्य है। काव्यरूप की दृष्टि से यह मुक्तक कृति है। इस कृति में कुल पाँचसौ-तिहत्तर छन्द हैं, पाँचसौ-पचास दोहे, तेईस सोरठे। इनमें से लगभग आधे मानस, रामाज्ञा-प्रश्न तथा वैराग्ग-संदीपिनी में भी मिल जाते हैं। ऐसा लगता है कि या तो तुलसीदास ने स्वयं या फिर उनके किसी भक्त ने इनका संकलन किया है। संकलन किसी वर्ण्यविषय-आधार पर नहीं किया गया। भिन्न-भिन्न विषयों, यथा नाम-माहात्म्य, भक्ति-महिमा, आचार, नीति इत्यादि से सम्बन्धित उद्गार भिन्न-भिन्न स्थलों पर प्राप्त होते हैं। भाषा कहीं व्रज का रंग लिए है, कहीं अवधी का, किन्तु उसका तद्भवनिष्ठ रूप प्राय: सर्वत्र एक-सा है। दोहावली तुलसीदास के व्यापक अनुभव से सम्पन्न प्रौढ़ ग्रन्थ हैं। इसका क्षेत्र अत्यन्त विशद है। वेदमूलक भारतीय संस्कृति की महत्ता-रक्षा, परम्परागत भक्ति-भावना का प्रतिपादन, शुद्धाचार, नीति, समाज-समीक्षा प्रभृति अनेक महत्त्वपूर्ण तत्त्व-बिन्दुओं के प्रभावी स्पर्श से सम्पन्न दोहावली मानस, विनय-पत्रिका, कवितावली और गीतावली के पश्चात् तुलसीदास की सर्वाधिक उत्कृष्ट कृति है। यदि इसका लगभग आधा अंश अन्य कृतियों से सम्बन्धित न होता, अथवा यह एक शतश: स्वतन्त्र कृति होती, तो इसका स्थान और अधिक ऊँचा होता।

भारत का नीति-साहित्य संसार में सर्वश्रेष्ठ है। पश्चिम में नीति-साहित्य का स्वतन्त्र अस्तित्व है ही नहीं। फारसी में सादी इत्यादि ने इस दिशा में महत्त्वपूर्ण सृष्टि की है। किन्तु, भारत इस दिशा में अतुलनीय है। महाभारत नीति-साहित्य की दृष्टि से भी एक महान् ग्रन्थ है। विदुर-नीति, शुक्र-नीतिसार, भर्तृहरि-नीतिशतकम् इत्यादि स्वतन्त्र एवं उच्चकोटि की कृतियाँ समाज और साहित्य को शताब्दियों से दिशा-संकेत द्वारा लाभान्वित करती आ रही हैं। पंचतन्त्र नीति-राजनीति का विश्व-विख्यात ग्रन्थ है। संस्कृत का नीति-साहित्य प्रेरक एवं सर्वोत्कृष्ट है। केवल सुभाषित-रत्न-भाण्डागार इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिये पर्याप्त है। भारत के कतिपय अन्य साहित्यों में भी, संस्कृत के स्वाभाविक प्रभाव के कारण, उच्चकोटि का नीति-साहित्य प्राप्त हो जाता है।

तमिल-साहित्य के एक सीमान्त तिरुवल्लुवर, एक बड़ी दूरी तक, नीतिकाव्यकार थे। फ़ारसी के अज़ीम शायर सादी की उनके साथ सफल तुलना की जा सकती है। कबीर और तिरुवल्लुवर की तुलना पर तो प्रबन्ध-रचना हो भी चुकी है। हिन्दी का नीति-साहित्य भी पर्याप्त सम्पन्न है। देवसेन, कबीर, तुलसी, रहीम, वृन्द, गिरिधर, दीनदयाल गिरि इत्यादि नीतिकाव्य के प्रख्यात प्रणेता थे। यों तो मानस नीतिसम्पन्न भी है, किन्तु दोहावली इस दिशा का विशिष्ट प्रयास है।

हिन्दी का अधिकांश नीति-काव्य दोहा छन्द में प्राप्त होता है। दोहा एक बहुत पुराना छन्द है। सरहपा इत्यादि सिद्धों ने भी इस छन्द का प्रयोग किया था। जैन कवि देवसेन कृत "सावयधम्म दोहा" में हिन्दी के दोहाबद्ध नीतिकाव्य का आदि-रूप देखा जा सकता है। देवसेन से दीनदयाल तक प्रायः सर्वत्र हिन्दी-नीतिकाव्य दोहा-सम्बद्ध रहा है। यत्र-तत्र, यथा गिरिधर तथा दीनदयाल में, कुण्डलिया छन्द मिलता है, किन्तु इसका आरम्भ भी दोहे से होता है।

नाम-माहात्म्य और सगुण-भक्ति प्रतिपादन :

दोहावली का आरम्भ तुलसीदास ने अपने इस परमप्रिय दोहे से किया है :

राम बाम दिसि जानकी लखन दाहिनी ओर।
ध्यान सकल कल्यानमय सुरतरु तुलसी तोर॥

इस चित्रोपम दोहे से उन्होंने वैराग्य-संदीपिनी का भी आरम्भ किया है। यह दोहा मानस में भी प्राप्त है। दोहावली के आरम्भिक अंशों में नाम-माहात्म्य का उच्चकोटि का वर्णन प्राप्त होता है। यह मानस जैसा है। मानस के अनेक दोहे इसमें विद्यमान हैं। किन्तु अनेक नए दोहे भी मिलते हैं। नाम-माहात्म्य भक्ति-काव्य का एक अनिवार्य अंग बन गया है। नाम भक्ति का आधार है। निर्गुण हो या सगुण, समग्र भक्ति नाम-माहात्म्यमयी है। तुलसीदास ने इस दिशा में सर्वाधिक रुचि व्यक्त की है। मानस और दोहावली के अतुलनीय नाम-माहात्म्य इस तथ्य के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। तुलसी के नाम-माहात्म्य में राम के ब्रह्मत्व में उनका साकार-शील समन्वित है। वे इस दिशा में भी अतीव उत्कृष्ट वर्णन करते हैं, यथा :

बलकल भूषन, फल असन, तृन सज्या, द्रुम प्रीति।
तिन्ह समयन लंका दई, यह रघुबर की रीति॥
जो संपति सिव रावनहि दीन्हि दिए दस माथ।
सो संपदा बिभीषनहि सकुचि दीन्हि रघुनाथ॥

दोहावली की एक महती विशेषता उसका परम्परागत भक्ति-भावना का सशक्त प्रतिपादन है। पुराण-काल से ही राम, कृष्ण, शिव इत्यादि सगुण-साकार, अथवा कलामय-प्रत्यक्ष, के आधार रहे हैं। निर्गुण-निराकार की कलाविहीन

परोक्ष-भक्ति इस परम्परा पर प्रहार कर रही थी। इस प्रहार को व्यर्थ-परिणाम सिद्ध करने के लिए सगुण-साकार भक्ति के समग्र तत्त्व एकजुट हो गए थे। सूर इत्यादि के भ्रमरगीत इसी के परिणाम थे। तुलसीदास के समग्र साहित्य में सनातन भक्ति की रक्षा का प्रबलतम प्रयास इसी का परिणाम था। दोहावली में अत्यन्त विशद्, तथ्य-संगत, तर्कपूर्ण तथा प्रभावी शैली में साधार-कलामयी सगुण-साकार-भक्ति का प्रतिपादन किया गया है। उदाहरणार्थ कुछ दोहे पर्याप्त हैं :

> हिय निर्गुन, नयनन्हि सगुन, रसना राम सुनाम।
> मनहुँ पुरट-संपुट लसत तुलसी ललित-ललाम ।।
> मोर-मोर सब कहँ कहसि, तू को ? कहु निजनाम।
> कै चुप साधहि सुनि समुझि, कै तुलसी जपु राम ।।
> हम लखि, लखहि हमार, लखि हम-हमार के बीच।
> तुलसी अलखहि का लखहि ? राम-नाम जपु नीच ।।
> जाने जानत जोइए, बिनु जाने को जान ?
> तुलसी यह सुनि समुझि हिय आनु धरे धनुबान ।।
> ज्ञान कहै अज्ञान बिनु, तम बिनु कहै प्रकाश।
> निर्गुन कहै जो सगुन बिनु, सो गुरु तुलसीदास ।।

'हिय निर्गुन' में ब्रह्म की आध्यात्मिक स्वीकृति, 'नयनन्हि सगुन' में उसके पावन दर्शन तथा 'रसना राम सुनाम' में उसकी साधार भक्ति एक ऐसी शतशः पूर्ण समग्रता है कि उसके समक्ष कोई एकपक्षीय प्रतिपादन ठहर ही नहीं सकता। कबीर इत्यादि में 'नयनन्हि सगुन' का सामर्थ्य नहीं है; इसीलिए, भक्ति का पूर्ण विकास तथा चरमोत्कर्ष तुलसी में ही दृष्टिगोचर होता है। कबीर इत्यादि की भक्ति कलामयी नहीं है, सूर इत्यादि की भक्ति तर्कमयी नहीं है; तुलसी की भक्ति कलामयी भी है, तर्कमयी भी। भक्तिभावना तथा भक्तिदर्शन दोनों का परम विकास तुलसीदास की कृतियों में ही प्राप्त होता है। तुलसीदास की भक्ति में भावना और तर्क अर्द्धनारीश्वर बन गए हैं। तुलसीदास की भक्ति में श्रद्धा और इड़ा एक हो गई हैं। यही पूर्ण दर्शन है ! कबीर, सूर, प्रसाद इत्यादि हिन्दी के अन्य द्रष्टा-कवि इस पूर्ण दर्शन तक नहीं पहुँच सके।

'मोर-मोर' अथवा 'अहंब्रह्मास्मि-अहंब्रह्मास्मि' तथा 'तत्त्वमसि-तत्त्वमसि' इत्यादि रटने या चिल्लाने मात्र से आत्मबोध नहीं प्राप्त हो सकता, आत्म-साक्षात्कार नहीं हो सकता; इन लक्ष्यों की प्राप्ति या तो श्रवण, मनन एवं साधना के द्वारा हो सकती है या भक्ति द्वारा। ऐसा प्रतिपादन सर्वथा सन्तुलित प्रतिपादन है। इसमें एकपक्षीयता की कमी नहीं मिलती। अहं-भाव सर्वथा विगर्हणीय है। यहाँ तुलसीदास "हिय निर्गुन नयनन्हि सगुन" के पथ पर ही

चलते हुए 'कै चुप साधहि सुनि समुझि कै तुलसी जपु राम' कह कर ज्ञान-योग-साधना तथा भक्ति के पथों को समान महत्त्व देते दृष्टिगोचर होते हैं। ऐसा गम्भीर संतुलन अन्यत्र दुर्लभ है।

'अलख-अलख' चिल्लाने से कुछ नहीं प्राप्त हो सकता, अपने प्रकृत रूप को समझने, अपने ब्रह्म को जानने, तब अपने और ब्रह्म के बीच के आवरण माया को परखने से ही ज्ञान प्राप्त हो सकता है, शान्ति प्राप्त हो सकती है। फिर 'अलख' 'लख' का नकारात्मक रूप मात्र है। अलख को लखना कैसा? अतएव, सरल-सुगम रामभक्ति ही वरेण्य है। कतिपय अध्येताओं को यहाँ 'नीच' शब्द ज्ञान और योग के नाम पर पाखण्ड-लीला करने वाले तथा गुरुडम के प्रतीक व्यक्तियों के प्रति उचित विगर्हणा का सूचक प्रतीत होता है, किन्तु 'तुलसी' शब्द ऐसी विगर्हणा के स्थान पर कवि की अपनी विनम्रता की ओर संकेत भी कर सकत है, इसमें सन्देह नहीं।

ज्ञान-अज्ञान अन्योन्याश्रित हैं, प्रकाश-तम अन्योन्याश्रित हैं; इसी प्रकार, सगुण-निर्गुण अन्योन्याश्रित है। सगुण-निर्गुण एक-दूसरे के विरोधी नहीं, पूरक हैं। संसार के समग्र धर्मग्रन्थों में परमात्मा सर्वशक्तिमान्, कृपालु, दयालु इत्यादि कहा गया है। शक्ति, कृपा, दया इत्यादि गुण ही तो हैं। इस स्थिति में, परमात्मा को शतशः निर्गुण कैसे कहा जा सकता है? परमात्मा का निर्गुण होना उसके निर्लिप्त होने के गुण का ही सूचक है। अतएव, तुलसीदास ललकार कर कहते हैं, यदि कोई सगुणरहित निर्गुण का सार्थक प्रतिपादन कर सके तो मैं उसका शिष्य बन जाऊँगा। तुलसीदास का निर्गुण-सगुण-समन्वयपूर्ण दर्शन है। उन्हें इसका पूर्ण विश्वास था तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

दोहावली का चातक-प्रेम अत्यन्त प्रसिद्ध है। चातक को तुलसीदास ने अनन्य भक्त के पावन प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया है। दोहावली का निम्नलिखित प्रसिद्ध दोहा मानस में ज्यों-का-त्यों तथा वैराग्य-संदीपिनी में तत्किंचित् अन्तर के साथ प्राप्त होता है :

एक भरोसो, एक बल, एक आस, बिस्वास।
एक राम घनस्याम हित, चातक तुलसीदास॥

चातक-स्वातिबुन्द-कल्पना का चरम उत्कर्ष तुलसीदास में ही दृष्टिगोचर होता है। यों कबीर, मीरा इत्यादि ने भी चातक को भक्ति का आदर्श माना है। सांसारिक विषमताओं पर ध्यान दिए बिना, कल की अपेक्षा से आबद्ध हुए बिना, आत्मसम्मान की बलि दिए बिना, शान्त-गहन एकरस भक्तिपथ पर आरूढ़ रहने का प्रतिपादन ही दोहावली के चातक-प्रेम का ध्येय है।

नीति-काव्य :

दोहावली भक्तिकाव्य भी है, नीतिकाव्य भी। इसके नीति के दोहे अतीव प्रभाव शैली में लिखे गए हैं। दोहावली में हिन्दी नीति-काव्य सर्वाधिक अलंकृत रूप प्राप्त करता दृष्टिगोचर होता है। कबीर, वृन्द और गिरिधर का नीति-काव्य सीधी-सादी शैली में रचा गया है। रहीम का नीति-काव्य यत्किंचित् अलंकृत है। दीनदयाल गिरि का नीति-काव्य विशेष अलंकृत है। दीनदयाल गिरि अन्योक्ति-सम्राट् कहे जा सकते हैं। तुलसीदास रूपक-सम्राट् हैं, भूषण अनुप्रास-सम्राट्, घनआनन्द विरोधाभास-सम्राट्, दीनदयाल गिरि अन्योक्ति-सम्राट्। किन्तु तुलसीदास का नीति-काव्य सर्वाधिक अलंकृत है। दोहावली इसका स्पष्ट प्रमाण है। तुलसीदास विश्व-कविता में अतुलनीय अलंकार-सम्पन्न महाकवि माने जा सकते हैं। महाकाव्यों में मानस, आत्मापरक काव्यों में विनय-पत्रिका, मुक्तककाव्यों में कवितावली, गीतिकाव्यों में गीतावली और नीति-काव्यों में दोहावली की अतुलनीय अलंकार-सम्पन्नता इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है।

समयानुकूल औचित्य ही नीति है। नीतिशास्त्र काल-व्यक्ति-सापेक्ष विषय है। व्यवहारगत शालीनता का प्रतिपादन, लौकिक-पारलौकिक सन्तोष का विधान मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा इत्यादि नीतिकाव्य के अनिवार्य तत्त्व हैं। दोहावली के नीतिपरक छन्दों में ये तत्त्व प्रभावी रूप से विद्यमान हैं, यथा :

जे जन रूखे विषयरस, चिकने रामसनेह।
तुलसी ते प्रिय राम को, कानन बसहिं कि गेह।
जथा लाभ संतोष सुख रघुबर चरन सनेह।
तुलसी जो मन खूँद सम कानन बसहु कि गेह।

यहाँ तुलसीदास गार्हस्थ्याश्रम और संन्यास की तात्त्विक एकता का प्रतिपादन कर रहे हैं। बाह्याश्रम और रूप नहीं, आचरण और भक्ति महान् हैं। गार्हस्थ्याश्रम समग्र वर्ण-व्यवस्था का आधार है। यदि वह सन्तुलित-सन्तुष्ट हो तो समाज स्वत: सन्तुलित-सन्तुष्ट हो जाएगा। तुलसीदास इन दोनों प्रधान आश्रमों को समान महत्त्व प्रदान कर रहे हैं। कबीर इत्यादि के सदृश वे संन्यास की निन्दा नहीं करते। संन्यास शब्द अपने-आपमें अतीव गहन और पवित्र है। भारतीय संस्कृति संन्यासियों के ऋण से कभी मुक्त नहीं हो सकती। संन्यास का परिहास या उसकी निन्दा अनुत्तरदायित्वपूर्ण कार्य है। संसार में सर्वत्र संन्यास का इस या उस रूप में अस्तित्व उसके व्यापक प्रभाव की सूचना देता है। हाँ, संन्यास यदि कुण्ठा अथवा निराशा अथवा पाखण्ड का परिणाम मात्र हो तो उसकी आलोचना उचित हो जाती है। मानस में तुलसीदास ने ऐसे संन्यास तथा संन्यासियों की अच्छी खबर ली है।

नीति-काव्य में सन्त का महत्त्व स्पष्ट है क्योंकि वह समाज का शिक्षक होता

है और नीतिशास्त्र समाजशास्त्र का अंग ही है। तुलसीदास आदि से अन्त तक, एक छोर से दूसरे छोर तक सर्वत्र भक्त हैं। भक्ति-नीति-समन्वय जीवन को पूर्ण बनाता है। भक्ति स्वच्छन्द नहीं, नीतिमयी है :

प्रीति राम सों, नीतिपथ चलिय राग-रिस जीति।
तुलसी संतन के मते इहै भगति की रीति॥
सत्य बचन, मानस विमल, कपटरहित करतूति।
तुलसी रघुबर-सेवकहिं, सकै न कलजुग धूति॥

नीति-काव्य में कवि का पाठकों को मानवीय दुर्बलताओं, काम-क्रोधादि से सचेत करते रहना आवश्यक भी है, उचित भी, क्योंकि उसका लक्ष्य ही सबल-स्वस्थ जीवन का निर्माण है। तुलसीदास का व्यक्तित्व इस कार्य से सर्वथा अनुकूल था। किन्तु उन्होंने 'ठेठ उपदेश-शैली' नहीं अपनाई, "कान्तासम्मितियोपदेश" का अपने अनुरूप ध्यान रखा है :

ज्ञानी, तापस, सूर, कवि, कोविद गुन-आगार।
केहि कै लोभ बिडंबना कीन्हि न यहि संसार॥
ब्यापि रहेउ संसार महुँ माया कटक प्रचंड।
सेनापति कामादि, भट दंभ, कपट, पाखंड॥
तात! तीनि अति प्रबल खल काम, क्रोध अरु लोभ।
मुनि विज्ञानधाम मन करहिं निमिष महुँ छोभ॥

लोकाचार-संतुलन नीतिकाव्य का एक प्रमुख प्रतिपाद्य विषय है। तुलसीदास ने एतद्विषयक दोहे भी सफलतापूर्वक रचे हैं। उनके ऐसे दोहे उपयुक्त उदाहरणादि से भी सम्पन्न हैं :

कै लघु कै बड़ मीत भल, सम सनेह दुख सोइ।
तुलसी ज्यों घृत मधु सरिस, मिले महाविष होइ॥
सदा न जे सुमिरत रहहिं, मिलि न कहहिं प्रिय बैन।
ते पै तिनके जाहिं घर जिनके हिये न नैन॥

आत्मरति एवं अहंभाव व्यक्ति को समाज-परांमुख तक बना देते हैं, जिससे उसकी क्षति होती है, क्योंकि यही संभव है। तुलसीदास सामाजिकता के महाकवि हैं। वे शालीनता के साथ सावधान करते हैं :

तुलसी अपनो आचरन भलो न लागत कासु।
तेहि न बसात जो खात नित लहसुनहू को बासु॥
आपु आपु कहँ जो भलो, अपने कहँ कोइ-कोइ।
तुलसी सब कहँ जो भलो सुजन सराहिय सोइ॥

सत्संग-महिमा भारतीय साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। तुलसी ने रामचरितमानस में सत्संग के महत्त्व का विशद अंकन किया है। दोहावली में भी सत्संग-महिमा बतलाई गई है :

बसि कुसंग चह सुजनता, ताकी आस निरास।
तीरथ हू को नाम भो 'गया' मगह के पास ॥
रामकृपा तुलसी सुलभ गंग सुसंग समान।
जो जल परै जो जन मिलै कीजै आपु समान ॥

तुलसी-नीति का सार है :

चलत नीति-मग, राम-पग नेह निबाहत नीक।
तुलसी पहिरिय सो बसन जो न पखारे फीक ॥

राजनीति-निरूपण :

राजनीति, जैसाकि नाम से ही स्पष्ट है, सर्वथा नीतिशास्त्रसंपृक्त विषय है। तुलसीदास, व्यास के साथ-साथ, काव्य में उच्चतम कोटि का राजनीति-निरूपण करने वाले विश्व के अद्वितीय कवि हैं। उन्होंने शासक या राजा के सेवापरक आदर्श का अतीव कलात्मक चित्रण किया है। नीतिनिपुण शासक या राजा के लिए सूर्य उदाहरण उन्हें अतीव प्रिय था। सूर्य सागर से लेकर कूप तक से यथोचित जल ग्रहण करते हैं, किन्तु उसकी वर्षा सब पर करते हैं। राजा भी उपयुक्त पात्रों से उचित कर लेकर सारी प्रजा के कल्याणार्थ उसका सदुपयोग कर देता है। माली, किसान, विटप इत्यादि के सदृश राजा सर्वजनकल्याण एवं भविष्य-निर्माण का प्रतीक है :

बरषत हरषत लोग सब, करषत लखै न कोइ।
तुलसी प्रजा-सुभाग ते भूप भानु-सो होइ ॥
माली, भानु, किसान सम नीति-निपुन नरपाल।
प्रजा-भागबस होहिंगे कबहुँ-कबहुँ कलिकाल ॥
सुधा सुनाज कुनाज फल आम असन सम जानि।
सुप्रभु प्रजा-हित लेहि कर सामाजिक अनुमानि ॥
पाके, पकए, बिटप-दल उत्तम, मध्यम, नीच।
फल नर लहैं, नरेस त्यों करि बिचार मन बीच ॥

कर शासन का कर है। वह प्रहारात्मक भी हो सकता है, रक्षात्मक भी। भारतीय राजनीति के आदिग्रन्थ अथर्ववेद का षोडशांश-कराधान संसार के इतिहास में अतुलनीय रूप से प्रजाहितमय घोषित किया जा सकता है। किसी भी महान् राष्ट्र में इतने कम कर का ग्रहण कभी नहीं हुआ। स्वयं भारत में अधिक-

तर षडांश-कराधान सहस्राब्दियों तक प्रचलित रहा था। रघुवंशम् के अनुसार सूर्यवंशकाल में तथा मौर्यकाल, गुप्तकाल एवं वर्द्धनकाल में इतना ही कर लिया जाता था। इतने उचित कर के अनन्तर भी, भारतीय-गौरव-हर्ष के अन्तिम प्रतीक हर्ष के सर्वस्वदान-उल्लेख ह्वेन्त्सांग जैसे विदेशी तक कर गए हैं। किन्तु विदेशी म्लेच्छ-दासता के युगों में कर अर्द्धांश के भयंकर स्तर तक पहुँच गया था; जजिया, तीर्थकर इत्यादि ऊपर से। नरपिशाच अलाउद्दीन खिलजी इतिहास के इस अतुलनीय शोषण-निदर्शन का आदिपुरुष था। तुलसीदास ने किसी म्लेच्छ-शासक का उल्लेख तक नहीं किया किन्तु आततायी और अनीतिकारी शासकों के कुकृत्य-परिणाम का संकेत करना वे जनमनशांति के हेतु आवश्यक समझते थे और यह एकदम सत्य भी था :

कंटक करि करि परत गिरि, साखा सहस खजूरि।
मरहिं कुनृप करि करि कुनय, सो कुचालि भव भूरि।।

शासक या राजा का स्वेच्छाचार स्वयं उसके लिए तो आत्मघाती होता ही है, राष्ट्रघाती भी होता है। इसीलिए व्यास, मनु, याज्ञवल्क्य, कात्यायन, कौटिल्य, विष्णु शर्मा इत्यादि नीतिकारों ने एक स्वर से मंत्रिपरिषद् की मंत्रणा के बिना राजा के कुछ न करने का प्रतिपादन किया है। शुक्रनीतिसार में इस बिन्दु को एकदम स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है :

सर्वविद्यासु कुशलो नृपो ह्यापि सुमंत्रवित्।
मंत्रिभिस्तु विना मंत्रं नेकोऽर्थ चिंतयेत् क्वचित्।।

प्राचीन भारतीय इतिहास इस तथ्य का ज्वलंत प्रतीक है कि अधिकांश राजा 'रंजयतीति राजा' की परिभाषा परिधि का सम्मान करते थे। सूर्यवंश तथा चंद्रवंश से लेकर मौर्यवंश तथा गुप्तवंश तक इस तथ्य के दर्शन किए जा सकते हैं। राम इस तथ्य के महत्तम प्रतीक हैं। शुक्रनीतिसार के अनुसार, राम के समान नीतिमान् राजा इस पृथिवी तल पर कोई नहीं हुआ : "न रामसदृशो राजा पृथिव्यां नीतिमानभूत्"। इसीलिए, योगवासिष्ठ राम के सदृश आचरण करने का आदेश देता है : "रामवद् व्यवहर्तव्यं"। तुलसीदास ने मानस में रामराज्य का अद्वितीय वर्णन किया है। दोहावली में वे राजा के जो आदर्श निर्धारित करते हैं, वे भारतीय परंपरा के शतशः अनुकूल हैं :

रैयत, राजसमाज, घर, तन, धन, धरम, सुबाहु।
शांत सुसचिवन सौंपि सुख बिलसहि नित नरनाहु।।
मंत्री, गुरु अरु बैद जो प्रिय बोलहिं भय, आस।
राज धरम, तन तीनि कर होइ बेगि ही नास।।

उपर्युक्त दोहों में प्रथम में 'शांत' विशेषण के अनंतर भी 'सु' उपसर्ग का प्रयोग विचारगाम्भीर्य का सूचक है। राजा प्रायः सर्वस्व महान् मंत्रियों के परा-

मर्श पर छोड़ देता है। इससे वह सुखी होता है। तुलसीदास ने राजा का जो आदर्श इन दोहों में प्रतिपादित किया है, वह आज भी विश्व के महान् लोकतंत्र ब्रिटेन के राजा या रानी में देखा जा सकता है। तुलसीदास का राजतंत्र लोकतंत्र का पर्यायवाची है। दूसरे दोहे में राजा के आतंक को उसी के लिए आत्मघाती घोषित किया गया है, जो एकदम ठीक है। स्वतंत्र भारत के कई अहंवादी प्रधानमंत्रियों ने राष्ट्र की भयावह क्षति तो की ही, अपनी नाकें भी कटाईं !

तुलसीदास केवलमात्र 'युग' के कवि नहीं थे। वे 'चिर' के कवि थे। युग की नन्हीं बाहों में उनकी विराट् प्रतिभा नहीं समा सकती थी। किन्तु उन्हें युग और चिर की संगति का पूरा ध्यान था। महान् कवि युग और चिर का सेतु होता है। तुलसीदास मध्यकालीन म्लेच्छ-शासन से ठीक ही क्षुब्ध थे क्योंकि वह क्रूर लुटेरे नरपशुओं का शासन था, जिसमें बहुसंख्यक प्रजा की आत्मा को देवालयों के माध्यम से ढहाने के अनवरत आयास होते रहते थे, जिसमें करों के करों द्वारा प्रजा का गला घोटना ही गौरव समझा जाता था, जिसमें क़िलेबाज़ी और इमारत-बाज़ी तथा सर्वविध भोगविलास और उच्छृंखलता के नए-नए प्रयोग किए जा रहे थे। नीति तो दूर, शालीनता और सामान्य-चारित्रिकता को भी कहीं स्थान न था। यह ठीक है कि तुलसीदास (१५३२-१६२३ ई०) का अधिकांश सृजनकाल अकबर (जीवनकाल १५४२-१६०५ ई० तथा राज्यकाल १५५६-१६०५ ई०) से संबद्ध रहा, जो अंधकारपूर्ण मध्यकाल के शासकों में मानवीय गुणों की संपन्नता का एकमात्र प्रतीक था, जिसने तीर्थकर, जज़िया इत्यादि अमानवीय कर रोक दिए थे, गोवध-निषेध लागू कर दिया था, एवं एक मुद्रा पर वनपथ पर गतिशील राम-सीता को अंकित कराया था, किन्तु उसकी उद्दाम विलासिता उन उच्चतर-मूल्यों के अनुकूल न थी जो तुलसीदास को प्रिय थे अथवा जो भारतीय राजनीति-शास्त्र के लक्ष्य थे। फिर, तुलसीदास "प्राकृत जन गुनगान" के विरोधी भी थे। कुंभनदास के सदृश "संतन को कहा सीकरी सों काम ?" या तानसेन के सदृश "जहाँपनाह, मैं अपने पूज्य गुरु हरिदास का सा कैसे गा सकता हूं क्योंकि वे परमात्मा के लिए गाते हैं और मैं आपके लिए ?" कहने का अवसर तक उनके पास नहीं फटक सका था ! वे व्यापक मानव-दर्शन में रुचि रखते थे। साम-दान[1]-दंड-भेद राजनीति के चिरंतन आधार हैं। इनमें 'दंड' सर्वाधिक-स्थूल एवं अल्पतम-मानवीय है। उसका प्रयोग किसी भी कुशलता की सूचना नहीं देता। उसका प्रयोग अक्षमताजन्य विवशता का सूचक मात्र है। इसीलिए, व्यास ने "न

---

१. 'दान' के लिए 'साम' के तुक की सुविधा के कारण साधारण जन 'दाम' समझते हैं। अब तो 'दाम' को 'दान' का तद्भव रूप ही मानना ठीक होगा !

दंडो न च दंडिकः" का आदर्श प्रतिपादित किया है। इसीलिए, मानस के व्यास तुलसीदास ने "दंड जतिन्ह कर" की श्लिष्ट-परिसंख्या-कलात्मक गहन निष्पत्ति की है। किन्तु म्लेच्छाक्रांत मध्यकालीन भारत में 'ऐसे-कुछ' की कल्पना भी तुलसीदास ही कर सकते थे। दोहावली के निम्नलिखित दोहे में तुलसीदास ने मध्यकालीन राजनीति की सारी विडंबना चित्रित कर दी है :

गोंड-गँवार नृपाल महि, यमन महामहिपाल।
साम न दाम न भेद कलि, केवल दंड कराल।।

कालिदास इत्यादि का साम-दान-दंड-भेद तुलसीदास इत्यादि में साम-दाम-दंड-भेद बन गया है। तुलसीदास ने पहले तो 'नृपाल' और 'महामहिपाल' के वर्ग स्पष्ट किए हैं, तब 'केवल दंड' के साथ 'कराल' विशेषण जोड़कर सारे विषय को संगत रूप प्रदान कर दिया है। यहाँ 'यमन' मुसलमान के लिए प्रयुक्त है। कालिदास इत्यादि में यवन यूनानी तथा संभवतः पाश्चात्य के लिए प्रयुक्त हुआ है (जैसे आजकल 'गोरा' प्रयुक्त होता है)। कालांतर में 'यवन' सारे विदेशियों के लिए प्रयुक्त होने लगा और इस कारण मुसलमान भी यवन कहलाए। यों, तुलसी ने 'मलेछ' तथा 'गोमर' (म्लेच्छ तथा गोहत्यारा) शब्दों का प्रयोग भी किया है। मुसलमानों के लिए मध्यकाल में म्लेच्छ शब्द अधिक प्रचलित था। किन्तु काव्य में यवन या यवनी का प्रयोग भी किया जाता रहा। पण्डितराज जगन्नाथ की "यवनी नवनीतकोमलांगी" प्रसिद्ध ही है। वैसे, 'तुरुक' शब्द का प्रयोग नरपिशाच तुर्कों के लिए ही नहीं प्रत्युत सारे मुसलमानों के लिए आज तक प्रचलित है जिसका कारण महमूद ग़ज़नवी, मोहम्मद ग़ोरी तथा ग़ुलाम-वंश, खिलजी-वंश, तुग़लक़-वंश एवं मुग़ल-वंश का तुर्क होना था (सैयद-वंश, लोदी-वंश, एवं सूरी-वंश पठानों के थे किन्तु ये या तो प्रभावहीन रहे या अल्पकालिक)। 'तुरुक' 'पतिततम' का प्रतीक था जैसाकि "अब तुरुक से भुरुक तो हो नहीं जाएँगे !" की कहावत से आज भी समझा जा सकता है।

हिन्दी के समूचे नीतिकाव्य में जैसा व्यापक और विशद राजनीति निरूपण दोहावली में प्राप्त होता है वैसा अन्यत्र कहीं नहीं। इस दृष्टि से, हमारे समग्र वाङ्मय में भी दोहावली रामचरितमानस के पश्चात् अन्यतम कृति है।

जीवन-दर्शन :

तुलसी के जीवन-दर्शन से अभिप्राय व्यक्तिगत-सिद्धांतमान्यता से भी है, समाजगत-अनुशीलन से भी। तुलसीदास स्वीकरण के महाकवि हैं। अस्वीकरण की प्रवृत्ति उनमें नहीं के बराबर ही है। किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि वे सबकुछ स्वीकार कर सकते थे। स्वीकरण के महाकवि से अभिप्राय समग्र श्रेष्ठ

तत्त्वों के ग्रहण मात्र से है। वेद भारतीय संस्कृति का शाश्वत आधार है। वेद जैसा प्राचीनतम और व्यापकतम आधार विश्व की किसी अन्य संस्कृति को प्राप्त नहीं है। प्राचीनतम से अभिप्राय उसके मानवता के प्रथम ग्रंथ होने से है। व्यापकतम से अभिप्राय उसके सर्ववाद, एकेश्वरवाद, बहुदेववाद, निराकारवाद, साकारवाद, सूक्ष्मोपासनावाद, बिम्बोपासनावाद इत्यादि सारे तत्त्वों के संगत स्वीकरण से है। वेद संकीर्ण विचारधारा का प्रतिपादक नहीं है। भारतीय संस्कृति के संकीर्ण न होने का प्रधान कारण वेद ही है। वेद का प्रभाव बाइबिल, यूनानी दर्शन, क़ुरान इत्यादि तक प्रसरित है। बाइबिल, (तौरात या 'ओल्ड टेस्टामेंट) का 'जनन' (जिनेसिस) तो ऋग्वेद के 'नासदीय-सूक्त' का अनुवाद ही लगता है, यूनान के आदि-दार्शनिक थेलीज़ का जलसृष्टिवाद भी इसी से प्रेरित है। वेदांत (उपनिषद्) का प्रभाव यूनानी दर्शन पर व्याप्त है। याज्ञवल्क्य के "आत्मा वारे द्रष्टव्य:" एवं "विज्ञातारमरे केन विजानीयात्" प्रभृति सूत्र सोक्रेटीज़ (सुकरात) के "निज को जानो" एवं "सब कुछ जो मैं जानता हूँ यह है कि मैं कुछ नहीं जानता" प्रभृति सूत्रों में अनूदित किए गए हैं। प्लेटो (अफ़लातून) की 'वार्ताएँ' (प्लेटोज़ डायलॉग्स) उपनिषद् की संवाद-शैली के अनुकरण में लिखी गई हैं, जिनकी गुरुमहिमा, ब्रह्मचर्य-गरिमा, शाकाहार-स्वीकृति से लेकर वर्णाश्रम-व्यवस्था, सदाचारवादिता, 'विश्वात्मा' तक की विवृति स्पष्टत: उपनिषद-मूलक है। विल ड्यूराँ कृत 'स्टोरी ऑफ फिलॉसॉफी' में प्लेटो की भारत-यात्रा उल्लिखित है। अरिस्टोट्ल (अरस्तू) का अपने शिष्य अलैक्जैण्डर (सिकंदर) के साथ भारत आना तो सर्वस्वीकृत तथ्य है ही। उद्दालक का 'तत्त्वमसि' ही ईसा का 'स्वर्गराज्य तेरे अंदर है' में अनूदित हुआ है। ऋग्वेद का "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति" एवं "एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति" का एकवादी बीज ही उपनिषद् का अद्वैतवादी पुष्प बना है, जिसका स्थूल एवं अनुदार रूप "ला इल्लाह अल्लल्लाह" में अनूदित मिलता है। याज्ञवल्क्य का 'अहं ब्रह्मास्मि' सूत्र मंसूर के 'अनलहक' में अनूदित मिलता है। याज्ञवल्क्य, उद्दालक, श्वेताश्वतर इत्यादि सुकरात, ईसा, मोहम्मद इत्यादि के प्रेरक थे। बुद्ध का शून्य एवं महावीर का कैवल्य भी उपनिषद् के सर्ववाद का ईश्वररहित रूपांतर मात्र हैं। अत: मनु की 'वेदोऽखिलोधर्ममूलम्' स्थापना शत-प्रतिशत सत्य है। वेद की उदारता किसी भी परवर्ती विकास को आत्मसात् करने का अतुलनीय एवं अद्भुत सामर्थ्य रखती है। तुलसीदास भारतीय संस्कृति के महान् रक्षक थे। वे उसके आधार वेद पर कोई प्रहार सहन नहीं कर सकते थे। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि वे दयानंद प्रभृति सुधारकों के सदृश परवर्ती चिंतन-विकास के विरोधी थे। वे पुराण को वेदविरोधी नहीं समझते थे। दयानंद का वेदवाद संकीर्ण है। ऐसे संकीर्ण वेदवाद की आलोचना कृष्ण तक ने की थी। तुलसीदास का वेदवाद उदार

है । स्थूलत: वेद-असंबद्ध तत्त्वों को भी वेद-संबद्ध घोषित करके वे इसी उदारता का परिचय देते हैं और इस प्रकार से भी वे वेद के आधार को सबल बनाते हैं। वेद की अखंड-अप्रतिहत शक्ति का इससे बड़ा प्रमाण क्या हो सकता है कि कृष्ण, बुद्ध, महावीर से लेकर गोरखनाथ, कबीर, नानक इत्यादि तक के विरोध का कोई व्यापक प्रभाव नहीं पड़ सका ? वेदविरोध प्राय: अहं प्रतिष्ठापकों की रूढ़ि बन गया है । किसी महान् एवं जीवंत राष्ट्र के शाश्वत आधार पर प्रहार एक नकारात्मक दृष्टिकोण है । तुलसीदास इसके विरोधी थे, यद्यपि यह विरोध संपूर्णानंद के परवर्ती विकास-विरोधी कृष्ण या गीता-प्रत्याख्यान जैसा अगतिशील नहीं है । बुद्ध विश्व की एक महानतम विभूति थे, जिनका प्रभाव सुकरात एवं ईसा इत्यादि पर भी पड़ा था, जिनका धर्म अशोक इत्यादि के साधनों से सशक्त होकर विश्व के अनेक भागों तक प्रसरित हुआ था। बौद्धधर्म विश्व का एक महान् धर्म है। भारत बुद्ध पर उचित गर्व कर सकता है। हिंदू बुद्ध को विष्णु का अवतार मानते हैं और तुलसीदास विनयपत्रिका में उनके इस 'पालक' रूप की वंदना करते हैं। किन्तु दोहावली में उन्होंने बुद्ध की वेदनिन्दा के अहंमूलक 'ध्वंस' का प्रत्याख्यान किया है :

अतुलित महिमा वेद की तुलसी किए बिचार।
जे निंदत निंदित भयो बिदित बुद्ध अवतार।।

बुद्ध ने अहिंसा की आड़ में जो वेद-विरोध किया, वह व्यर्थ गया। बिम्बसार, अशोक, कनिष्क, हर्ष, नेहरू, अंबेदकर इत्यादि की राजनीतिमूलक सहायता के बावजूद बुद्ध का धर्म भारत में अपने पृथक् रूप की रक्षा न कर पाया, अन्यत्र उनका धर्म अहिंसा की रक्षा न कर पाया। संसार के अनेक धर्मों में बलि-प्रथा आज तक क़ायम है। अतएव, बलि के बहाने वेद पर प्रहार करना व्यर्थ है। बलि (नरबलि तक) बाइबिल में भी है, कुरान में भी, अन्यत्र भी। अतएव, ऐसे प्रहार केवल व्यर्थ की समस्याएँ उत्पन्न कर सकते हैं। बिना ऐसे प्रहार के भी बलि-प्रथा पर विचार किया जा सकता है। हिन्दूधर्म में बलि-प्रथा का अस्तित्व नाममात्र को रह गया है। हिन्दू संसार में सर्वाधिक अहिंसक है। अतएव इस या उस बहाने वेदनिन्दा निंद्य है। किसी को अपना धर्म चलाकर अपनी पूजा करानी है तो चलाए—कराए; वेदनिंदा के बिना भी यह काम हो सकता है। बुद्ध की जैसी स्पष्ट आलोचना तुलसीदास ने की है वैसी किसी अन्य मध्यकालीन महापुरुष ने नहीं। नानक की 'जपजी' में करोड़ों कृष्णों, करोड़ों बुद्धों इत्यादि के द्वारा भी परमात्मा का पार न पा सकने की चर्चा बस चर्चा भर है, जिसका उद्देश्य 'सब तज गुरु भज' के व्यक्तिगत लाभ से भी असंपृक्त नहीं है। तुलसीदास की बुद्धालोचना में पूर्वाग्रह या स्वप्रतिष्ठापन का लेश भी नहीं है। यदि पूर्वाग्रह होता तो वे विनयपत्रिका में बुद्ध की स्तुति क्यों करते ?

बुद्ध ने वेदनिन्दा की आड़ में अपना नया धर्म चलाया, जिसमें वे ही परमात्मा माने गए। किन्तु उनके पास बलिजन्य हिंसा का आधार विद्यमान था। कालांतर में जब उदार वेदधर्म अथवा हिन्दूधर्म ने बौद्धधर्म को अपने में खपा लिया तब बलिप्रथा समाप्तप्राय हो गई। मध्यकालीन हिन्दूधर्म बलिविहीन-सा था। अतएव, बौद्ध-जैनादि मतों के प्रवर्तन का यह बहाना इस काल में विद्यमान न था। फिर भी, कबीर इत्यादि, बिना पढ़े-समझे ही, वेद-निन्दा किया करते थे। जायसी इत्यादि सूफ़ी कवि कल्पित कथाओं के उल्लंग वर्णनों में रहस्य का आरोप कर रहे थे। राम, कृष्ण, पाण्डव इत्यादि हिन्दू-संस्कृति के आधारों के उच्छेद में उनकी पूरी रुचि थी। इन लोगों में से कुछ का उद्देश्य अपनी पूजा करवाना था, कुछ का इस्लाम का वर्चस्व स्थापित करना। अनेक पंथों का प्रवर्तन स्वपूजावाद-मूलक ही है। यह कार्य हिन्दूधर्म के मूल्य पर ही संभव था क्योंकि हिन्दू परतंत्र था और उसकी संस्कृति पर, उसके धर्म पर, उसकी मान्यताओं पर प्रहार सर्वथा निरापद था। कबीर ने एकपक्षीय आलोचना के अपवाद से बचने तथा हिन्दुओं को आकृष्ट करने के लिए यत्र-तत्र क़ुरान और मुल्ला-मौलवियों की आलोचना भी कर दी है। किन्तु जिस धड़ल्ले से वे कृष्ण के बहुपत्नीवाद की आलोचना करते हैं उससे किसी मुसलमान सुल्तान के उल्लंग विलास की भी नहीं, मोहम्मद के दत्तकपुत्रपत्नी के स्वपत्नीकरण[1] एवं नववर्षीय बालिका से विवाह[2] इत्यादि समेत बहुविवाह की चर्चा तो दूर की चीज़ है : आखिर कबीर थे तो मुसलमान ही! दूसरे, ऐसे संदर्भ में मोहम्मद का नाम लेना आग से खेलना था—आज (१९८७ ई०) के पाकिस्तान इत्यादि देशों में मोहम्मद-आलोचना पर मृत्युदण्ड का कानून प्रचलित है; फिर, तब तो धर्मान्धताकाल सर्वथा नग्न था! तुलसीदास ऐसे न्यस्तस्वार्थग्रस्त वेद-पुराण-आधारोच्छेदन के सजग विरोधी थे :

साखी सबदी दोहरा कहि किहनी-उपखान।
भगति निरूपहिं भगत कलि, निंदहि बेद-पुरान।।
स्रुतिसंमत हरिभक्तिपथ संजुत बिरति-बिबेक।
तेहि परिहरहिं बिमोहबस कल्पहिं पंथ अनेक।।
सकल धरम बिपरीत कलि, कल्पित कोटि कुपंथ।
पुन्य पराय पहार, बन, दुरे पुरान सुग्रंथ।।

'पुन्य पराय पहार, बन' में सच्चे तपस्वियों के हिमालय-विन्ध्यादि में चले जाने तथा 'दुरे पुरान सुग्रंथ' में देवालयों के ढहाए-जलाए जाने के कारण उनको

१. ज़ैद की पत्नी ज़ैनब मोहम्मद-पत्नियों में एक बनीं, जिससे दत्तकपुत्रवाद इस्लामविरोधी हो गया।

२. आयशा नौ साल की थी और मोहम्मद बावन के।

छिपाकर बचाने की युग-सूचना अतीव मार्मिक रूप में प्राप्त होती है।

इन विषम परिस्थितियों में तुलसीदास ने वेद-मूल एवं पुराण-फलमय हिन्दूधर्म की रक्षा के अथक प्रयास किए थे। उनके निस्पृह एवं निस्वार्थ उद्गारों की सत्यता ने कोटि-कोटि मानवों के हृदयों का स्पर्श किया और जनता को पंथातिरेक के पंथभ्रम से परित्राण प्राप्त हुआ। मध्यकाल के मनु तुलसीदास ने घोषणा की :

बुध-किसान सर-बेद निज-मते-खेत सब सींच।
तुलसी कृषि लखि जानिबो उत्तम, मध्यम, नीच।।

वेद के आधार पर पुराण-पल्लवित भक्ति तुलसीदास की आस्था भी थी, प्रतिपाद्य भी। उन्होंने सर्वत्र इसका अतीव प्रभावी वर्णन किया है। भक्ति शालीन है, नम्रतामयी है, युगानुरूप है; तुलसीदास इसका प्रतिपादन सर्वत्र एकरस उत्साह से करते हैं। सारा जगत् इस तथ्य से परिचित है। यह भक्ति उन्हें शैशव के संस्कारों से प्राप्त हुई थी, इसका विकास साधु-गुरु-सेवा के द्वारा हुआ था, इसको प्रौढ़ता चिन्तन ने प्रदान की थी, और अंततोगत्वा यह उनका चिर-दर्शन बन गई थी। यह कोई आकस्मिक् उपलब्धि नहीं थी। तुलसीदास ने दोहावली के इस अतीव महत्त्वपूर्ण दोहे में इस सब का प्रभावी वर्णन किया है :

सेइ साधु-गुरु, समुझि, सिखि, रामभगति थिरताइ।
लरिकाईं को पैरिबो तुलसी बिसरि न जाइ।।

यहाँ 'लरिकाईं को पैरिबो' जहाँ एक ओर :

मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकर खेत।
समुझी नहिं तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत।।

का संकेत करता है वहाँ दूसरी ओर इस प्रचलित कथा को निराधार सिद्ध करता है कि उनकी भक्ति उनकी पत्नी रत्नावली (या भारती) की फटकार का परिणाम थी। ऐसी कथाएँ भक्तों के जीवन-वृत्तों में सामान्य संसारी जीवों को प्रेरणा प्रदान करने के उद्देश्य से जोड़ दी जाती रही हैं। सूर, नंददास, रसखान इत्यादि के साथ भी ऐसी कथाएं जुड़ी मिलती हैं। इनकी लोकप्रियता व्यापक हो सकती है, परंतु ये प्रामाणिक नहीं हैं। ऐसा तुलसीदास इस दोहे में स्वयं बोल रहे हैं। सूर ने बार-बार अपने को जन्मांध कहा है। फिर, उनकी नेत्रसौन्दर्यमूलक विल्वमंगल-कथा का क्या महत्त्व? खेद है कि परप्रत्ययेनयबुद्धि से आलोड़ित एवं स्वकामुकता से विलोड़ित अमृतलाल नागर ने 'मानस का हंस' एवं 'खंजन नयन' जैसे निराधार उपन्यास ही लिख मारे!

यह भक्ति-दर्शन तुलसीदास का स्थिर-दर्शन था। इस प्रसंग में उनकी आलोचना भी की गई थी। किन्तु उन्होंने तर्क-वितर्क से ऊपर उठकर स्पष्ट कर दिया था :

करमठ कठमलिया कहैं, ज्ञानी ज्ञानबिहीन।
तुलसी त्रिपथ बिहाय गो राम-दुआरे दीन।।

दोहावली का 'त्रिपथ बिहाय' विनयपत्रिका के 'परिहरै तीनि भ्रम' का स्मरण करता है, गीता के 'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' का स्मरण कराता है। तत्त्वतः यह तर्कमुक्तिवाद की निष्पत्ति है। प्रेम तर्क नहीं जानता। तुलसीदास केवल रामपद-अनुराग चाहते हैं। राम परमात्मा हैं तो बड़ा अच्छा, राम राजा हैं तो अहोभाग्य किन्तु मूलतत्त्व अनुराग है :

जो जगदीस तौ अति भलो, जो महीस तौ भाग।
तुलसी चाहत जनम भरि राम-चरन-अनुराग।।

यह अनुराग न कोरी प्रवृत्ति है, न कोरी निवृत्ति; इसमें प्रवृत्ति-निवृत्ति का मणिकांचन योग उपलब्ध है। तुलसीदास की भक्ति अनूठी 'मध्यमा-प्रतिपदा' है :

घर कीन्हें घर जात है, घर छाँड़े घर जाइ।
तुलसी घर-बन बीच ही रामप्रेमपुर छाइ।।

इस रामप्रेमपुर में भाषा की कोई समस्या नहीं है। कोई भी भाषा इसके स्पर्श से पुलकित हो सकती है। तुलसीदास ने, दांते के सदृश, लोकभाषा में सृजन किया था। किन्तु वे कबीर के सदृश अक्खड़ होकर संस्कृत जैसी गीर्वाण-भारती को 'कूपजल' नहीं कह सकते थे क्योंकि वे उसे जानते थे, पहचानते थे, उसमें काव्य-रचना कर सकते थे। कबीर की सी निरक्षरतामूलक कुंठा से मुक्त होने के कारण अमीर खुसरो एवं मुल्ला दाऊद ने संस्कृत की प्रशंसा की है। तुलसी का संतुलित दृष्टिकोण सर्वथा प्रशस्य है :

स्याम-सुरभि-पय बिसद अति, गुनद करहिं तेहि पान।
गिरा-ग्राम्य सियराम-जस, गावहिं-सुनहिं सुजान।।
हरि-हर-जस सुर-नर-गिरहु बरनहिं सुकबि-समाज।
हाँड़ी हाटक घटित चरु राँधे स्वाद सुनाज।।
का भाषा का संस्कृत, प्रेम चाहिए साँच।
काम जु आवै कामरी, का लै करै कुमाच।।

यह भाषा-दर्शन सर्वथा अतुलनीय एवं गंभीर है। अज्ञानवश संस्कृत जैसी महान् भाषा को 'कूपजल' कहने या अतिज्ञानवश :

भाषा बोलि न जानहीं जिन्हके कुल के दास।
उपज्यो तेहि कुल मंदमति जड़ कबि केसवदास।।

का गौरव-प्रदर्शन करने के छोरों की तुलना में यह दृष्टिकोण ही स्वस्थ माना जाएगा। भाषा नहीं, भाव मुख्य है। भाव हो या विचार, भाषा हो या छंद, परंपरा हो या उपयोगिता दोनों के मध्य संतुलन स्थापित करने में तुलसीदास की कोई समता नहीं।

गंभीरतम कोटि के महापुरुष-महाकवि होने के कारण तुलसीदास परंपरा की व्यर्थालोचना में रुचि नहीं रखते थे। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वे हानिकारिणी एवं अंधविश्वासमयी रूढ़ियों के समर्थक थे। मानस में उन्होंने पाखंडी ब्राह्मणों और संन्यासियों की डटकर खबर ली है। दोहावली में वे गंगा में खड़े होकर पंडों इत्यादि को दान देना वैसा ही मानते हैं जैसा जल में मछली पकड़ने के लिए चारा फेंकना, और इसका परिणाम नरक-गमन घोषित करते हैं :

तुलसी दान जो देत हैं जल में हाथ उठाय।
प्रतिग्राही जीवै नहीं, दाता नरकै जाय।।

इसी प्रकार, वे भूत-प्रेत-पूजन की मूर्खता का प्रत्याख्यान करते हैं :

तुलसी परिहरि हरि-हरहिं पाँवर पूजहिं भूत।
अंत फजीहति होहिंगे गनिका के से पूत।।

इसी प्रकार, के शवपूजा की इस्लामी रूढ़ि की व्यर्थता सिद्ध करते हैं :

लही आँख कब आँधरे ? बाँझ पूत कब ल्याय ?
कब कोढ़ी काया लही ? जग बहराइच जाय।।

इस दोहे के प्रसंग को तुलसी-ग्रंथावली (भाग दो) में इन शब्दों द्वारा स्पष्ट किया गया है, 'बहराइच में सालार मसऊद गाजी (गाजी मियाँ) की दरगाह है, जहाँ कई हजार यात्री जाया करते हैं। यह महमूद ग़ज़नवी का भानजा था, जो महमूद के कन्नौज से आगे न बढ़ने पर भी ग़ाज़ी होने के हौसले से अवध की ओर कुछ सेना लेकर आया। वहाँ श्रावस्ती (आधुनिक सहेतमहेत जो बलरामपुर के पास है) के जैन राजा सुहृद्देव के हाथ मारा गया।' विदेशी आक्रांता की पूजा दासता की पराकाष्ठा है !

तुलसीदास सहज प्रेममय भक्ति के प्रतिपादक थे। इस भक्ति में न कर्मकांड की जटिलता है, न ज्ञानकांड की दुरूहता। 'नीतिपथ पर चलते हुए प्रेमसाधना' इसकी परिभाषा है। इसमें भाषा, जाति, धर्म इत्यादि की कोई सीमाएं नहीं हैं। यह सर्वसुलभ वस्तु है। इसमें अंधविश्वासी रूढ़ियों को कोई स्थान प्राप्त नहीं।

अलंकरण :

अलंकरण की दृष्टि से दोहावली एक अतीव संपन्न कलाकृति है। इसमें शायद ही कोई ऐसा दोहा या सोरठा मिले जो अलंकारसंपन्न न हो। दृष्टांत, उदाहरण और अर्थान्तरन्यास (लोकोक्ति) प्रभृति नीतिकाव्योपयुक्त अलंकार तो इसमें भरे ही पड़े हैं। अन्य अलंकारों की भी कमी नहीं है। इसमें अलंकारों का प्रयोग इतना उपयुक्त और स्वाभाविक हुआ है कि उसका विवेचन पूरे ग्रंथ का विषय है। प्रत्येक अलंकार भाव या विचार से पूरा-पूरा मेल खाता है। कहीं भी अलंकार ऊपरी या बनावटी नहीं लगता। कुछ उदाहरण भी इस तथ्य को

स्पष्ट कर देंगे :

१. तनु विचित्र, कायर वचन, अहि अहार, मन घोर।
तुलसी हरि भए पच्छधर ताते कह सब मोर।।
(श्लेष का अद्वितीय उदाहरण)

२. बसि कुसंग चह सुजनता ताकी आस निरास।
तीरथहू को नाम भो 'गया' मगह के पास।।
(लोकोक्ति, श्लेष, दृष्टांत)

३. तुलसी परिहरि हरि-हरहिं पाँबर पूजहिं भूत।
अंत फजीहति होहिंगे गनिका के से पूत।।
(उपमा, भंगपद यमक)

४. रामनाम-मनि-दीप धरु जीह-देहरी-द्वार।
तुलसी भीतर-बाहरौ जौ चाहसि उजियार।।
(सांगरूपक, दीपक)

५. बरखारितु-रघुपति-भगति तुलसी सालि-सुदास।
राम नाम बर बरन जुग सावन-भादों मास।।
(सांगरूपक, भंगपद यमक)

६. करम खरी कर, मोह थल, अंक चराचर-जाल।
हनत गुनत, गुनि-गुनि हनत जगत ज्योतिषी-काल।।
(उच्चकोटि का सांगरूपक)

७. राम नाम अवलंब बिनु परमारथ की आस।
बरषत बारिद-बूंद गहि चाहत उड़न अकास।।
(निदर्शना)

८. जथा भूमि सब बीजमै, नखत-निवास अकास।
राम नाम सब धरममै जानत तुलसीदास।।
(उदाहरण)

९. ज्यों जग बैरी मीन को, आपु सहित, बिनु बारि।
त्यों तुलसी रघुबीर बिनु गति आपनी बिचारि।।
(उदाहरण, पुनरुक्तवदाभास)

१०. हिय फाटहु, फूटहु नयन, जरउ सो तन केहि काम।
द्रवहिं, स्रवहिं, पुलकहिं नहीं तुलसी सुमिरत राम।।
(उच्चकोटि का यथासंख्य)

११. मंत्री, गुरु अरु बैद जो प्रिय बोलहिं भय, आस।
राज, धरम, तन तीनि कर होइ बेगि ही नास।।
(यथासंख्य)

१२. नीच निचाई नहिं तजै सज्जन हू के संग।
तुलसी चंदन-बिटप बसि बिनु विष भे न भुअंग।।

(अतद्गुण)

१३. कुलिसहु चाहि कठोर अति, कोमल कुसुमहु चाहि।
चित खगेस अस राम कर, समुझि परै कहु काहि।।

(प्रतीप, विरोधाभास)

१४. हरो चरहिं, तापहिं बरत, फरे पसारहिं हाथ।
तुलसी स्वारथ मीत सब, परमारथ रघुनाथ।।

(तुल्ययोगिता)

१५. बिन्ध न ईंधन पाइए, सायर जुरै न नीर।
परै उपास कुबेर घर, जो बिपच्छ रघुबीर।।

(तुल्ययोगिता, विशेषोक्ति)

१६. हिय निर्गुन, नयनन्हि सगुन, रसना राम सुनाम।
मनहुँ पुरट-संपुट लसत तुलसी ललित-ललाम।।

(उत्प्रेक्षा)

१७. घर कीन्हें घर जात है, घर छाँड़े घर जाइ।
तुलसी घर-बन-बीच ही रामप्रेमपुर छाइ।।

(विरोधाभास)

१८. राम दूरि माया बढ़ति, घटति जानि मन माँह।
भूरि होति रबि दूरि लखि सिरपर पगतर छाँह।।

(दृष्टांत)

१९. तुलसी अद्भुत देवता, आसादेबी नाम।
सेए सोक समर्पई, तजे सदा अभिराम।।

(उच्चकोटि का विरोधाभास)

२०. फूलै-फरै न बेंत, जदपि सुधा बरषहिं जलद।
मूरुख-हृदय न चेत, जो गुरु मिलैं बिरंचि, सिव।।

(दृष्टांत, अर्थान्तरन्यास)

२१. बारि मथे घृत होइ बरु, सिकता तें बरु तेल।
बिनु हरि-भजन न भव तरिय, यह सिद्धांत अपेल।।

(विनोक्ति, अर्थान्तरन्यास)

२२. बिनु सत्संग न हरि-कथा, तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गए बिनु राम-पद होय न दृढ़ अनुराग।।

(विनोक्ति)

२३. मकर, उरग, दादुर, कमठ जलजीवन जलगेह।
तुलसी एकै मीन को है साँचिलो सनेह॥
(अन्योक्ति, पुनरुक्तवदाभास)

२४. सभा सुजोधन की सकुनि-सुमति सराहन-जोग।
द्रोन, बिदुर, भीषम, हरिहि कहैं प्रपंची लोग॥
(अन्योक्ति)

२५. तुलसी पावस के समय धरी कोकिलन मौन।
अब तो दादुर बोलिहैं, हमैं पूछिहै कौन॥
(अन्योक्ति)

विविध :

दोहावली भक्ति-नीति-काव्य है, किन्तु इसमें आत्मपरक काव्य के अनेक बिन्दु अनायास प्राप्त हो जाते हैं। कुछ का तत्संबद्ध उल्लेख जीवन-दर्शन उपशीर्षक के अंतर्गत किया जा चुका है। मानस इत्यादि के सदृश्य दोहावली में भी कौसल्या[1], सीता, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न, हनुमान् इत्यादि की प्रशंसा और स्तुति की गई है, जो तुलसीरस के सर्वथा अनुकूल है। विनयपत्रिका इत्यादि के सदृश, कृष्ण, शिव इत्यादि की प्रशंसा दोहावली में भी की गई है, जो तुलसी के विराटवाद के सर्वथा अनुकूल है। मानस, गीतावली इत्यादि के सदृश, दशरथ-प्रेम तथा जटायु-गति की चर्चा दोहावली में भी की गई है, जो तुलसी की रामकथा-रुचि के सर्वथा अनुकूल है।

काशी-वास-काल, विशेषत: उसके प्रारंभिक भाग में, तुलसीदास के सामने अनेक कठिनाइयाँ आई थीं। महान् प्रतिभा के प्रति तुच्छजन की पूर्वाग्रहग्रस्त भावनाएँ सदा ही मुखर रही हैं, कदाचित् रहेंगी भी। तुलसी ने मानस, विनयपत्रिका तथा कवितावली में अपनी कठिनाइयों के प्रभावी संकेत किए हैं। दोहावली में भी "करमठ कठमलिया कहैं, ज्ञानी ज्ञानबिहीन" जैसे उद्‌गार प्राप्त हो जाते हैं। किन्तु, निम्नलिखित दोहा तुलसी की हास्य-रुचि, उनके साहस-धैर्यादि तथा उनकी अटल-आस्था का परिचय एक-साथ ही दे देता है :

बासर ढासनि के ढका[2], रजनी चहुँदिसि चोर।
संकर निज पुर राखिए, चितै सुलोचन-कोर॥

गोस्वामीजी के जीवनवृत्त से भी मेल खाने के कारण इस दोहे का महत्त्व और अधिक बढ़ जाता है। उनके संघर्षजयी व्यक्तित्व का यह ज्योति-बिन्दु अतीव

---

१. 'कौशल्या' प्रचलित है, किन्तु शुद्ध 'कौसल्या' ही है।
२. डाकुओं के दल-के-दल।

प्रभावी है।

तुलसीदास को अपनी साधना पर पूरा विश्वास था। वे चिरपुरुष थे, और उन्हें इसका बोध था; भले ही वे अतीव नम्र रहे हों। उन्होंने, मानस इत्यादि के सदृश ही, दोहावली में भी नीचों के प्रति अपना भक्तिपरक आवेश व्यक्त किया है, जो अतीव मूल्यवान् है, यथा :

रावन-रिपु के दास तें कायर करहिं कुचालि।
खर, दूषन, मारीच ज्यों, नीच जाहिंगे कालि॥

तुलसीदास का ज्योतिष-ज्ञान हिन्दी-कवियों में सबसे अधिक था। ज्योतिष के गणित तथा फलित दोनों रूपों से वे अभिज्ञ थे। यों, ज्योतिष-संबद्ध अलंकरण सूर, केशव, बिहारी इत्यादि में भी प्राप्त होता है तथा जायसी, मंझन, उस्मान इत्यादि सूफ़ियों ने फलित-ज्योतिष में पर्याप्त रुचि दिखलाई है, किन्तु यह सब सामान्य-ज्ञान से आगे नहीं जाता। तुलसीदास ने दोहावली में फलित-ज्योतिष के ज्ञान का ऐसा विशेष परिचय दिया है जो गणित-ज्योतिष तक का स्पर्श करता है। रामाज्ञा-प्रश्न में भी फलित-ज्योतिष का प्रभावी ज्ञान दृष्टिगोचर होता है। अच्छा हो यदि कोई विद्वान् ज्योतिषी 'तुलसी का ज्योतिष-ज्ञान' जैसा लघुशोध-ग्रंथ लिखे। वैसे, तुलसी का आयुर्वेद-ज्ञान सामान्यत: मानस एवं विशेषत: कविता-वली में स्पष्टत: दृष्टिगोचर हो जाता है, जिस पर आयुर्वेद का कोई अधिकारी विद्वान् 'तुलसी का आयुर्वेद-ज्ञान' जैसा लघुशोधग्रंथ लिख सकता है।

दोहावली तुलसीदास की प्रौढ़ कृतियों में एक है। यदि इसके लगभग आधे दोहे मानस, रामाज्ञा-प्रश्न तथा वैराग्य-संदीपिनी में भी न होते अर्थात् यदि यह एक सर्वथा स्वतंत्र कृति होती तो इसका महत्त्व बहुत अधिक होता। फिर भी यदि हम यथास्थिति के आधार पर विचार करें तो, दोहावली एक उच्चकोटि का भक्ति-नीति-काव्य प्रतीत होता है। यदि तुलसीदास केवल दोहावली लिखते तो, एक भक्त के अतिरिक्त, रहीम के समकक्ष कवि माने जाते। रामचरितमानस के अतिशय महान् ग्रंथ होने के कारण तुलसी के अन्य ग्रंथों पर पर्याप्त कार्य नहीं हो पाया। उनके अन्य ग्रंथों पर स्वतंत्र विचार अतीव आवश्यक है। तभी उनकी विश्वस्तरीय महत्प्रतिभा का पूर्ण साक्षात्कार संभव हो सकेगा।

१२

पार्वती-मंगल

पार्वती-मंगल खण्ड-काव्य है, जिसमें, जैसा कि ग्रन्थाभिधान से ही स्पष्ट है, पार्वती के विवाह की कथा का वर्णन किया गया है। इस कथा का प्रमुख उद्गम शिव-पुराण है। महाकवि कालिदास ने अपना कुमारसम्भवम् (कार्तिकेय-जन्म) महा-काव्य शिवपुराण के आधार पर ही लिखा था यद्यपि उनकी अतुलनीय प्रतिभा ने उसे मौलिक कलाकृति का रूप प्रदान कर दिया है। तुलसीदास, कालिदास के सदृश शैव न होते हुए भी, शिव के महान् भक्त थे। शिव भारतीय संस्कृति और साहित्य के महानतम गौरव-मानदण्डों में एक हैं। उनसे सम्बद्ध साहित्य और दर्शन महान् और गम्भीर है। पुराण, स्तोत्र, कथा इत्यादि साहित्य के अनेक रूप उनसे सम्बद्ध होकर पावन बन गए हैं। शिव भारत की राष्ट्रीय एकता के महान् प्रतीक हैं; हिममण्डित गिरिगुहा के अमरनाथ, समतल वसुधा पर काशी के विश्वनाथ, समतल वसुधा पर अवन्ती के महाकाल, सागर के वक्ष पर रामेश्वरम् इत्यादि कुछ प्रख्यात निदर्शन इस तथ्य को स्पष्ट कर देते हैं। समग्र भारत में लक्ष-लक्ष शिवमंदिर विद्यमान हैं। तुलसीदास-जैसा भारतीय संस्कृति का महान् आख्याता और महानतर व्याख्याता शिव पर सृजन न करता, यह बहुत कठिन था। मानस में शिव गुण तथा परिमाण में राम के पश्चात् सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रूप में चित्रित किए गए हैं। विनय-पत्रिका में उनकी स्तुति पर्याप्त परिमाण में दृष्टिगोचर होती है। श्रीकृष्णगीतावली तक में उनका पावन उल्लेख प्राप्त होता है। किन्तु इन ग्रन्थों में प्राप्त उक्त वर्णनों से शिव-सम्बन्धी साहित्य में पृथक् ग्रन्थ-रूप से वृद्धि नहीं होती। पार्वती-मंगल के द्वारा ऐसी स्वतन्त्र-सत्तापरक वृद्धि भी हो जाती है, शिवभक्ति भी व्यक्त हो जाती है। अतएव, पार्वती-मंगल का एक विशेष महत्त्व बन जाता है। पार्वती-मंगल और श्रीकृष्णगीतावली तुलसीदास की समन्वय-साधना के दो स्वतन्त्र स्मारक हैं।

कुमारसम्भवम् एक विख्यात महाकाव्य है, जो कहीं बाईस, तो कहीं सत्रह, तो कहीं आठ सर्गों में प्राप्त होता है, तथा जिसके आठ सर्ग निश्चित रूप से कालिदास-प्रणीत माने जाते हैं। इस उच्चकोटि के महाकाव्य में हिमालय-वर्णन, कामदेव की सम्मोहक सज्जा एवं उनके मादक क्रिया-कलाप, रति-विलाप, ब्रह्म-

चारी-वेशधारी शिव और तपस्विनी पार्वती का संवाद प्रभृति अंश विश्व-वाङ्मय में उल्लेखनीय स्थान के अधिकारी हैं। पार्वती-मंगल सोहर के १४८ तुकों अर्थात् २९६ पंक्तियों तथा १६ हरिगीतिका छन्दों अर्थात् ६४ पंक्तियों या कुल ३६० पंक्तियों का लघुतर काव्य है। इसका शीर्षक भी सीमित वर्ण्य-विषय की सूचना देता है। यद्यपि इस पर कुमारसम्भवम् का प्रभाव पड़ा है किन्तु वह इतना परोक्ष है कि इसे एक पूर्ण मौलिक कृति कहना सर्वथा समीचीन है। कालिदास और तुलसीदास के दृष्टिकोण भिन्न हैं। कालिदास का उद्देश्य केवल कलात्मक वर्णन है, तुलसीदास का भक्तिमूलक समन्वय-साधना की दिशा में गतिशील होना। कालिदास की रुचि श्रृंगारिक है, तुलसीदास की मर्यादित। कुमारसम्भवम् के अष्टम सर्ग में शिव-पार्वती मदिरापान कर गन्धमादन पर्वत पर उल्लंग विहार करते हैं। तुलसीदास गन्ध और मादन, मद और विहार इत्यादि शब्दों का उल्लेख तक नहीं करते।

कुमारसम्भवम् और पार्वती-मंगल में महाकाव्य और खण्डकाव्य के, कला और मर्यादा के, शिल्प और ध्येय के अन्तर एकदम स्पष्ट हैं। शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से कुमारसम्भवम् एक महान् कृति है, पार्वती-मंगल एक सामान्य कृति है। कालिदास की कृतियों में कुमारसम्भवम् का स्थान उच्च है, तुलसीदास की कृतियों में पार्वती-मंगल का स्थान सामान्य है। तुलसीदास का उद्देश्य शिवचरित-गान है, कलाकृति-निर्माण नहीं। यों भी, कालिदास गुण के कवि अधिक हैं, तुलसीदास परिणाम के कवि अधिक हैं। अभिज्ञान शाकुन्तलम्, मेघदूतम्, रघुवंशम् और कुमारसम्भवम् के स्तर की चार कृतियां तुलसीदास नहीं रच सके, रामचरित-मानस के स्तर की एक कृति कालिदास नहीं रच सके। कुल मिलाकर, दोनों प्रथम श्रेणी के विश्वकवि हैं, किन्तु दोनों में पर्याप्त अन्तर है। इस अन्तर के दर्शन, एक सीमा में ही सही, पार्वती-मंगल में किए जा सकते हैं।

पार्वती-मंगल के आरम्भ की चार पंक्तियों में ही जानकी-मंगल के सदृश, वन्दना तथा वस्तुनिर्देश दोनों प्राप्त हो जाते हैं। सं० २००४ के तुलसी ग्रन्थावली भाग दो में ये पंक्तियां इस प्रकार मुद्रित हैं :

> बिनइ गुरुहि, गुनिगनहि, गिरिहि, गननाथहि।
> हृदय आनि सियराम धरे धनु भाथहि॥
> गावउँ गौरि-गिरीस-विवाह सुहावन।
> पाप-नसावन, पावन, मुनि-मन-भावन॥

उपर्युक्त वन्दना में, जानकी-मंगल के सदृश ही, गुरु का उल्लेख सर्वप्रथम किया गया है। यदि 'गिरिहि' मुद्रण की दृष्टि से शुद्ध है तो वन्दना पर्वतराज हिमालय के लिए भी है जिनकी पुत्री पार्वती के विवाह की कथा ग्रंथ में गाई जाने वाली है। यदि ऐसा है तो इसकी प्रशंसा ही करनी पड़ेगी। कालिदास ने कुमार-

सम्भवम् में पृथक् वन्दना का विधान नहीं किया, प्रत्युत 'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः' इत्यादि शब्दों से वस्तुवर्णन कुछ ऐसी पावन शैली से प्रारम्भ कर दिया है कि उसे पूर्णतः वन्दना-विहीन भी नहीं कहा जा सकता। प्रसाद ने कामायनी का आरम्भ सीधे 'हिमगिरि' शब्द से किया है यद्यपि उन्होंने प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष किसी भी दृष्टि से वन्दना का विधान नहीं रखा। सम्प्रति अनेक कवि मंगलाचरण को अनावश्यक मानते हैं। यदि 'गिरिहि' का मुद्रण शुद्ध है तो तुलसीदास ने सुस्पष्ट वन्दना में भारत के पिता हिमालय को समाविष्ट कर अपनी महान् दृष्टि का परिचय दिया है। मुद्रण शुद्ध ही लगता है क्योंकि गीताप्रेस की प्रति में भी ऐसा ही है। यदि मुद्रण की अशुद्धि के कारण 'गिरहि' के स्थान पर 'गिरिहि' आ गया है तो वाग्देवी की वन्दना तो परम्परागत है ही। "हृदय आनि सियराम" इत्यादि तुलसी की सर्वव्यापिनी अनन्य भक्ति को स्पष्ट करता है। दूसरे तुक में वर्ण्यविषय का संकेत एवं उसका माहात्म्य वर्णित है।

पार्वती-मंगल में भी, मानस की 'कवित-बिबेकु एक नहिं मोरे' और 'कवि न होउँ, नहिं चतुर कहावउँ' उक्तियों जैसी विनम्रतासूचक शब्दावली विद्यमान है:

> कबित-रीति नहिं जानउँ, कबि न कहावउँ।
> शंकर-चरित-सुसरित मनहिं अन्हवावउँ॥

अन्य अधिकांश कृतियों के विपरीत, इसमें रचना-संवत् का उल्लेख किया गया है यद्यपि वह मानस के "संवत सोरह सै एकतीसा" जैसा स्पष्ट नहीं है, और महामहोपाध्याय पण्डित सुधाकर द्विवेदी ने इसे १६४३ बताया है:

> जय संवत, फागुन सुदि पांचै, गुरु-दिनु।
> अस्विनि बिरचेउँ मंगल, सुनि सुख छिनु-छिनु॥

इसके पश्चात् हिमालय तथा उनके ऐश्वर्य, उनके घर पार्वती के जन्म, पार्वती के विकास, उनकी उपयुक्त आयु पर माता-पिता द्वारा वर-चिन्ता, नारद-आगमन, उनके द्वारा शिव के पति होने का कथन, इस पर हिमालय और मेना के खेद, नारद के प्रबोध पर खेदनाश एवं हर्ष, शिव के लिए पार्वती के द्वारा तप के निश्चय इत्यादि का वर्णन कुमारसम्भवम्, मूलतः शिवपुराण से मिलता-जुलता है। मानस के बालकाण्ड में यह सब अधिक विस्तार एवं कला के साथ दृष्टिगोचर होता है; उनमें दक्ष से सम्बद्ध कथा, सती के आत्मदाह एवं उनके ही पार्वती के रूप में जन्म लेने का वर्णन किया गया है।

पार्वती-मंगल का सर्वोत्तम अंश पार्वती के तप, ब्रह्मचारी वेष में शिव के पार्वती की परीक्षा लेने के उद्देश्य से आने तथा दोनों की वार्ता का वर्णन है। यह वर्णन कुमारसम्भवम् के अत्यन्त उत्कृष्ट पंचम सर्ग की स्मृति करा देता है।

पार्वती के अटल शिव-प्राप्ति-तप के समक्ष माता-पिता को झुकना ही पड़ा क्योंकि 'जेहि अनुरागु लागु चितु सोइ हितु आपन'। यह अर्थान्तरन्यास कालिदास के 'प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता' की स्मृति कराता है। कालिदास ने पार्वती के तप का विश्व-स्तर पर अतुलनीय वर्णन किया है। तुलसीदास के समक्ष खण्ड-काव्य की सीमाएँ विद्यमान थीं। उन्होंने थोड़ी-सी झलक ही दी है। दोनों कवियों के वर्णनों में यत्र-तत्र साम्य भी है। यथा :

पूजहिं सिवहि, समय तिहुँ करहिं निमंजन।
देखि प्रेम ब्रतु नेम, सराहहिं सज्जन॥

उक्त सरल छन्द कालिदास के इस शब्दचयन-विशिष्ट एवं अर्थान्तरन्यास-सम्पन्न छन्द की स्मृति कराता है :

कृताभिषेकां हुतजातवेदसं
त्वगुत्तरासंगवतीमधीतिनीम्।
दिदृक्षवस्तामृषयोऽभ्युपागमन्न-
धर्मवृद्धेषु वयः समीक्ष्यते॥

उच्चकोटि की चित्रोपमता से सम्पन्न प्रस्तुत वर्णन :

नींद न भूख पियास, सरिस निसि बासरु।
नयन नीर, मुख नाम, पुलक तनु, हिय हरु॥

कालिदास के निम्नलिखित सुन्दर वर्णन से भी अधिक गम्भीर बन पड़ा है :

शुचौ चतुर्णां ज्वलतां हविर्भुजां
शुचिस्मिता मध्यगता सुमध्यमा।
विजित्य नेत्र प्रतिघातिनी प्रभा-
मनन्यदृष्टिः सवितारमैक्षत॥

कालिदास ने पञ्चाग्नि-तप-रता पार्वती की 'शुचिस्मिता' शोभा में साधना की सुन्दर पावन दृढ़ता को बिम्बित किया है, तुलसीदास ने 'नयन-नीर' में प्रेम की तन्मयता को बिम्बित करते हुए उसे 'मुख नाम' से अधिक स्पष्ट किया और तब 'पुलक तनु' के द्वारा मूल आनन्द का संकेत करके 'हिय हरु' में सारे भाव को पराकाष्ठा पर प्रतिष्ठित करने में सफलता प्राप्त की है। यह छन्द पार्वती-मंगल का सर्वोत्तम छन्द है, जो विश्व-वाङ्मय के सर्वोत्तम छन्दों में स्थान ग्रहण करने का अधिकारी है। दृश्य 'नयन नीर, मुख नाम, पुलक तनु' अदृश्य 'हिय हरु' के सहायक हैं। दो-दो शब्दों में चार सोपानों का यह पूर्ण वर्णन पार्वती-मंगल की प्रौढ़ता का चरम निदर्शन है। यह पार्वती का बिम्ब नहीं, भक्ति का विम्ब है। 'नयन नीर, मुखनाम, पुलक तनु, हिय हरु' के द्वारा भक्ति की प्रतिमा का निर्माण किया गया है। महाकवि शेक्सपीअर कहते हैं, "प्रेम अश्रु-विजड़ित शोभा में सुन्दरतम हो जाता है"। यहाँ प्रेम सुन्दरतम शोभा धारण किए है। यद्यपि तुलसी-

दास ने प्रेममय अथवा भक्तिमय बिम्बों की रचनाएँ मानस और दोहावली इत्यादि में अनेक अवसरों पर की हैं किन्तु पार्वती-मंगल के 'नयन-नीर, मुखनाम, पुलक तनु, हिय हरु' की क्रम-सम्पन्नता और संक्षिप्तता अतुलनीय है, इसमें सन्देह नहीं।

तप-रता पार्वती की शोभा का वर्णन करने में कालिदास की सफलता अत्यन्त व्यापक और सर्वश्रेष्ठ है। कालिदास स्वतन्त्र एवं स्वर्णयुगीन भारत के महाकवि थे। उनकी भक्ति श्रृंगार से भयभीत नहीं थी। वे प्रकृति से भी मर्यादावादी नहीं थे। इसके लिए तीव्र आलोचना भी हुई है। जो हो, कला की एक सीमा देखिए :

स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः
पयोधरोत्सेधनिपात चूर्णिताः ॥
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे।
चिरेण नाभिं प्रथमोद् बिन्दवः ॥

संसार-साहित्य में सौंदर्य का ऐसा सजीव बिम्ब कहीं नहीं प्राप्त होता। यह वंशस्थ छंद विश्वकला की एक सीमा है। इसका क्रम सहज है। यदि माइकेलेंगेलो या पिकासो इसे देखते तो मंत्रमुग्ध हो जाते, मस्तक झुका लेते। यदि क्रोचे इसे देखते तो अनुभूति के एकता के सिद्धांत के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत कर देते। कालिदास विश्व-साहित्य में प्रेम और सौंदर्य के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। यह छंद इस विख्यात तथ्य का एक सशक्त प्रमाण है। इसका अर्थ एकदम सीधा-सादा है, "पावस के प्रथम रस-बिंदु क्षण भर पक्ष्म-स्थित होकर अधर पर जा गिरते, तत्पश्चात् उरोजों की ऊँचाई पर गिरने से चूर्ण-चूर्ण होकर त्रिवली से फिसलते-फिसलते बड़ी देर से नाभि तक पहुँच पाते थे।" इस छंद में व्यजंना-शक्ति अपनी चरम सीमा का स्पर्श कर गई है। आकर्षक और आकार में सम्पन्न पक्ष्म, प्रेमोन्मीलित अधर, पुष्टोन्नत उरोज, क्षीण और सुषमा से परिपूर्ण कटि की सूचक त्रिवली और संगति की केन्द्र नाभि, सब कुछ उच्चतम सौंदर्य का चित्रण करने में पूर्ण सफल है। खजुराहो के अद्वितीय शिल्पी कालिदास के पुत्र थे। तुलसीदास का युग, उनकी व्यक्तिगत रुचि, उनकी समाजपरक दृष्टि ऐसे वर्णनों में रुचि नहीं रख सकती थी। उनकी इस सीमा का भी मूल्य है। वे स्रष्टा से पहले द्रष्टा थे।

मानस में पार्वती के तप की परीक्षा के लिए सप्तर्षि आते हैं। किन्तु पार्वती-मंगल में, कुमारसम्भवम् के सदृश, स्वयं शिव ब्रह्मचारी के रूप-वेश में। कालिदास ने उनका वर्णन उच्चतम कोटि की चित्रोपमता, मानवीकरण और उपमा से सम्पन्न शैली में किया है :

अवाजिनाषाढधरः प्रगल्भवाग्-
ज्वलन्निव ब्रह्ममयेन तेजसा।
विवेश कश्चिज्जटिलस्तपोवनं
शरीरबद्धः प्रथमाश्रमो यथा ।।

"तदनन्तर कृष्णमृगचर्म एवं पलाश दंड धारण किए, वाक्चतुर ब्रह्मवर्चस्-जाज्वल्यमान्, ब्रह्मचर्याश्रम-मानवीकरणवत् एक ब्रह्मचारी उस आश्रम में प्रविष्ट हुआ।" यह वर्णन शिव-पुराण के ऐसे ही वर्णन का विकास है। तुलसीदास ने इस प्रसंग में केवल इतना लिखा है, "बटुवेष पेषन पेम-पन, व्रत-नेम ससिसेखर गए।" कालिदास के ब्रह्मचारी के प्रश्न अत्यन्त कलात्मक, सुन्दर और गूढ़ हैं; अद्वितीय हैं। तुलसीदास ने ब्रह्मचारी के उद्‌गार छह तुकों में सीमित कर दिए हैं। इनमें ये दो तुक दृष्टान्त-सम्पन्न और उत्कृष्ट हैं :

जौ बर लागि करहु तप तौ लरिकाइय।
पारस जौ घरु मिलै तौ मेरु कि जाइय ।।
मोरे जान कलेस करिय बिनु काजहि।
सुधा कि रोगिहि चाहहि, रतन कि राजहि ।।

ये छन्द कालिदास की स्मृति कराते हैं :

दिवं यदि प्रार्थयसे वृथाश्रमः।
पितुः प्रदेशास्तव देवभूमयः।।
यथोपयन्तारमलं समाधिना।
न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत् ।।

ब्रह्मचारी के तपकारणपरक प्रश्न के उत्तर के लिए पार्वती सखी को संकेत करती हैं जो सर्वथा उचित है, उपयुक्त है, स्वाभाविक है। यहाँ कालिदास और तुलसीदास एक हैं। किन्तु तुलसीदास ने, कालिदास के सदृश, सखी के माध्यम से पार्वती के शिव-प्रेम एवं विरह का वर्णन नहीं किया। यह वर्णन बहुत उच्चकोटि का है। शिव-प्राप्ति-कारण जानकर ब्रह्मचारी ने जो सटीक और सुन्दर तर्क दिए वे मानस से मिलते-जुलते हैं, कुमारसम्भवम् से मिलते-जुलते हैं। तुलसीदास ने "सुमुखि सुलोचनि ! हर मुख पंच तिलोचन" में परिकर का एक सुन्दरतम निदर्शन प्रस्तुत किया है। "जो सोचहि ससिकलहि सो सोचहि रौरेहि" की चर्चा कुमारसम्भवम्-प्रेरित है :

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां
समागम प्रार्थनया पिनाकिना।
कला च सा कान्तिमती कलावत
स्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ।।

तुलसीदास ने लिखा है :

तुमहि सहित असवार बसह जब होइहहिं।
निरखि नगर नर नारि बिहँसि मुख गोइहहिं ।।

यह कालिदास के इस श्लोक से मिलता-जुलता है :

इयं च तेऽन्या पुरतो विडम्बना
यदूढया वारणराज हार्यया।
विलोक्य वृद्धोक्षमधिष्ठितं त्वया
महाजनः स्मेरमुखो भविष्यति ।।

ब्रह्मचारी के सारे तर्क व्यर्थ गए। तुलसी ने इसका अनुप्रास, यमक, परिकर, रूपक, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, निदर्शना इत्यादि से सम्पन्न सुन्दर वर्णन किया है :

बटु करि कोटि कुतर्क जथारुचि बोलइ।
अचल-सुता-मन-अचल बयारि कि डोलइ ?
साँच सनेह साँच रुचि जो हठि फेरइ।
सावन सरित सिंधु रुख सूप सौं घेरइ ।।

चार पंक्तियों में अलंकारों की ऐसी सुन्दर और सूक्ष्म सज्जा समूचे साहित्य में कम ही मिल सकती है। इनसे अगली दो पंक्तियाँ भी दृष्टान्त-अर्थातरन्यास-अलंकृत हैं :

मनि बिनु फनि, जलहीन मीन तनु त्यागइ।
सो कि दोष गुन गनइ जो जेहि अनुरागइ ।।

अनुराग व्यापार-बुद्धि नहीं है। वह हानि-लाभ, गुण-दोष, हार-जीत इत्यादि से ऊपर की वस्तु है। वह तर्क-वितर्क से ऊपर शुद्धानुभूतिमय है। इस सामान्य लौकिक व्यापारपरक वार्ता से पार्वती का रुष्ट होना स्वाभाविक है :

करन कटुक बटु वचन बिसिख सम हिय हए।
अरुन नयन, चढ़ि भ्रुकुटि, अधर फरकत भए ।।

कालिदास ने पार्वती के इस रूप का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है :

इतिद्विजातौ प्रतिकूलवादिनि
प्रवेपमानाधर लक्ष्यकोपमा।
विविञ्चितभ्रूलत माहिते तया
विलोचने तिर्यगुपान्त लोहिते ।।

"उस ब्राह्मण के इस प्रकार बोलने पर, जिसका क्रोध अधर-कम्प से लक्षित हो रहा था ऐसी उस पार्वती ने कोनों की ओर आरक्त लोचनों से भृकुटियों को टेढ़ा करके, उस पर तिर्यक दृष्टि डाली।" इस छंद की चित्रोपमता असाधारण है।

कुमारसम्भवम् में पार्वती का उत्तर अतीव प्रभावी एवं कलात्मक है।

पार्वती-मंगल में वह संक्षिप्त है, जिसमें तर्क के स्थान पर नियति का सुगम पथ ग्रहण किया गया है। कालिदास की पार्वती "न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते" के सार्वभौम सत्य को प्रस्तुत करती हैं, तुलसीदास की पार्वती प्रेम में इच्छा-तत्त्व के अटल महत्त्व का उल्लेख करती हैं :

को करि बादु-बिबादु बढ़ावहि ?
मीठ काहु, कबि कहहिं, जाहि जोइ भावइ।

यहाँ 'कवि कहहिं' के द्वारा तुलसीदास ने पार्वती को अहंभाव से शतशः मुक्त कर अपनी स्वाभाविक मर्यादावादिता का सुन्दर परिचय दिया है।

पार्वती-मंगल में पार्वती पुनः महत्निन्दा सुनने के पाप से आशंकित और प्रकटतः क्रुद्ध स्थिति में, सखी के माध्यम द्वारा ब्रह्मचारी से चले जाने के लिए कहती हैं, जबकि कुमारसम्भवम् में उसे बोलने को तत्पर देखकर उक्त कारण से ही वे स्वयं 'स्तनभिन्नवल्कला' दशा में चल पड़ती हैं। दोनों ही ग्रंथों में इसी बिन्दु पर शिव प्रकट हो जाते हैं। तुलसी में वे केवल प्रकट होते हैं। कालिदास में वे प्रकट होकर पार्वती को पकड़ लेते हैं। कालिदास ने यहाँ वंशस्थ-क्रम समाप्त कर दो प्रख्यात वसन्त-तिलका वृत्तों के साथ पञ्चम सर्ग समाप्त कर दिया है :

तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसांगयष्टि—
निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः
शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ॥
अद्यप्रभृत्यनवतांगि तवास्मि दासः
क्रीतस्तपोभिरितिवादिनि चन्द्रमौलौ।
अह्नाय सा नियमजं क्लममुत्ससर्ज
क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते॥

उपर्युक्त छंद उच्चतम कोटि की संयोग-शृंगार निष्पत्ति, चित्रोपमता, बिम्बविधान, उपमा, उदात्त एवं अर्थान्तरन्यास इत्यादि से सम्पन्न हैं। अर्थ है, "उनको अवलोक कम्पित, स्वेदयुक्त, प्रस्थानोत्थित चरणवाली पर्वतराजकन्या मार्ग में पर्वत द्वारा रोकी गई सरिता के सदृश न तो जा सकीं न ठहर ही सकीं। 'हे अवनतांगि, आज से मैं तुम्हारा तपःक्रीत दास हूं।' चन्द्रमौलि के इस प्रकार कहने पर वे तपजन्य श्रांति को एकदम भूल गईं क्योंकि फल-प्राप्ति पर श्रांति नवीनता उत्पन्न कर देती है।" तुलसीदास ने भी इस वर्णन में अपनी स्वाभाविक मर्यादावादिता के अनुरूप, शृंगार के संयोग पक्ष की विभावानुभावसंचारीभाव-सम्पन्न सफलता प्राप्त की है :

सुन्दर गौर सरीर भूति भलि सोहइ।
लोचन भाल बिसाल बदन मनु मोहइ॥

सैलकुमारि निहारि मनोहर मूरति ।
सजल नयन, हिय हरषु, पुलक तनु पूरति ।।
पुनि-पुनि करै प्रनाम, न आवत कछु कहि ।
"देखौं सपन की सौंतुख ससिसेखर सहि ।।"

तुलसीदास का संयोग-श्रृंगार भक्तिवलित है; कालिदास का संयोग-श्रृंगार अनुरक्ति-कलित है। दोनों की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। रस-निष्पत्ति में दोनों पूर्णतः सफल हुए हैं। तुलसीदास भी भक्तिविनम्र उदाहरण से अलंकृत शब्दावली में पार्वती की 'पुनर्नवता' का वर्णन करते हैं :

जैसे जनम-दरिद्र महामनि पावइ ।
पेखत प्रगट प्रभाउ प्रतीति न आवइ ।।
घर तें खेलन मनहुँ जबहिं आई उठि ।
सफल मनोरथ भयउ गौरि सोहइ सुठि ।।

तुलसीदास के शिव भी विनम्रतापूर्वक कहते हैं :

हमहिं आजु लगि कनउड़ काहु न कीन्हेउ ।
पारबती ! तप प्रेम मोल मोहि लीन्हेउ ।।

यहाँ 'तपःक्रीत' जैसी बात तो है, पर 'तवास्मिदासः' तक जाना तुलसीदास के लिए सम्भव नहीं। 'कनउड़' तक चला जाना भी कालिदास की संगति का परिणाम ही है। इस परिणाम से तुलसीदास ने 'बाप-अधीनता' की तत्काल चर्चा कर दी है।

तुलसीदास रससिद्ध कवीश्वर हैं; जरामरणभयमुक्त। मानस, कवितावली, गीतावली, पार्वती-मंगल जानकी-मंगल, इत्यादि इस कथन के प्रमाण हैं। श्रृंगार-रस के महाकवि के रूप में भी वे सफल हैं; संयोग-वियोग दोनों पक्षों की दृष्टि से। किन्तु मानस से पार्वती-मंगल तक प्रायः सर्वत्र उनका संयोग-श्रृंगार उनकी भक्ति से अत्यधिक अनुशासित ही दृष्टिगोचर होता है। लगता है, तुलसीदास के साहित्य में अंगीरस भक्ति है, श्रृंगार तथा अन्य रस उसके अंग हैं। शुद्ध कला की दृष्टि से, शुद्ध रस-निष्पत्ति की दृष्टि से, यह तथ्य खटक सकता है। किन्तु तुलसी की महिमा, गरिमा, उनका सर्वस्व भक्ति ही है, भक्ति के कारण ही वे महाकवि महालोकनायक की द्विविध-महानता के प्रतीक बन गए हैं। अतएव, हम यदि कहीं उन्हें भक्ति के अत्यधिक प्रभाव से मुक्त देखना चाहते हैं तो यह हमारी सीमा है।

पार्वती-मंगल की रचना शिवभक्ति-प्रेरित है, सामान्य सृजन-प्रेरित नहीं। शिव द्वारा स्मरण किए जाने पर सप्तर्षि आते और कहते हैं :

सुमिरहिं सुकृत तुम्हहिं जन तेइ सुकृतीबर ।
नाथ जिन्हहिं सुधि करिय तिन्हहिं सम तेइ हर ।।

इस उद्गार की सुन्दर अनन्वयोपमा तुलसीदास की महान् स्थिति की भी

सूचक है। सप्तर्षि हिमालय-नगरी में जाकर विवाह-व्यवस्था निश्चित करते हैं। इसके पश्चात् तुलसीदास विवाह का व्यापक और सुन्दर वर्णन करते है। जीवन के नाना संस्कारों, विशेषत: विवाह, के जैसे व्यापक और सुन्दर वर्णन तुलसीदास ने किए हैं वैसे विश्वसाहित्य में अन्य किसी महाकवि ने नहीं। इससे उनकी प्रसन्न सामाजिकता का बोध होता है। इससे उनकी महान् लोकप्रियता के एक कारण का बोध होता है।

मानस के सदृश पार्वती-मंगल में भी शिव-विवाह हास-परिहास से परिपूर्ण रूप में वर्णित है। हास्यरस की निष्पत्ति में तुलसीदास की सफलता विश्व के महाकवियों को चुनौती दे सकती है। मानस में शिव-विवाह, नारद-मोह, कपट-मुनि-प्रसंग, कालनेमि-प्रसंग तथा पार्वती-मंगल में शिव की बारात का वर्णन इस कथन के प्रमुख निदर्शन हैं। मानस में स्थान-स्थान पर शिष्ट हास्य के रसकण प्राप्त होते रहते हैं। कवितावली में "बिन्ध्य के वासी उदासी तपोव्रतधारी महा-बिनु नारि दुखारे" से आरम्भ होनेवाला छन्द इस दिशा का एक प्रभावशाली निदर्शन है। नारियों के व्यंग्यविनोद की कई झाँकियाँ रामललानहछू में प्राप्त होती हैं। अस्तु।

पार्वती-मंगल में बारात देखने को उत्सुक लोगों को अप्रत्याशित और अचानक रूप से शिव और उनके गणों को देखना पड़ा। इससे हर्ष के स्थान पर तत्काल भय की आकस्मिक व्याप्ति स्वाभाविक थी। इस वर्णन में उल्लेखनीय भाव-सन्धि के दर्शन होते हैं:

प्रमुदित गे अगवान बिलोकि बरातहि।
भभरे बनइ न रहत, न बनइ परातहि॥
चले भाजि गज बाजि फिरहिं नहिं फेरत।
बालक भभरि भुलान फिरहिं घर हेरत॥

पार्वती-मंगल में बारात और वर के विषय में अननुकूल चर्चा सुनकर शिव ने अतीव सुन्दर रूप धारण कर लिया है, जिससे सास-ससुर, पुरजन इत्यादि को यथेच्छ हर्ष प्राप्त हो सके। उनके गण भी कामदेव के मन को मोहित करने वाले सौन्दर्य से सम्पन्न हो गए हैं। मानस में ऐसा नहीं है। वहाँ मेना इत्यादि को प्रसन्न करने के लिए नारद के आने और सबको पार्वती की महिमा समझाने की युक्ति से काम लिया गया है। तुलसीदास ने इस शोभा और इसके प्रभाव का अच्छा वर्णन किया है:

लखि लौकिक गति संभु जानि बड़ सोहर।
भे सुन्दर सतकोटि-मनोज मनोहर॥
नील-निचोल छाल भइ, फनि मनि भूषन।
रोम रोम पर उदित रूपमय पूषन॥

गन भए मंगलवेष मदन-मनमोहन।
सुनत चले हिय हरषि नारि नर जोहन।।
संभु सरद राकेश नखतनगन सुरगन।
जनु चकोर चहुँ ओर बिराजहिं पुरजन।।

विवाह का वर्णन, जानकी-मंगल के सदृश, विस्तृत और सुन्दर है। वधू-रूप में पार्वती की शोभा का वर्णन उत्प्रेक्षा, रूपक, प्रतिवस्तूपमा प्रभृति अलंकारों से सम्पन्न है :

भूषन बसन समय सम सोभा सो भली।
सुखमा बेलि नवल जनु रूपफलनि फली।।
कहहु काहि पटतरिय गौरि गुन रूपहि।
सिंधु कहिय केहि भाँति सरिस सर कूपहि।।

रामचरितमानस-परवर्ती कृति होने के कारण इस प्रसंग में मर्यादा का निर्वाह अभूतपूर्व रूप से सफल है। विदा का वर्णन मानस और जानकी-मंगल के सदृश, यहाँ भी मर्मस्पर्शी है। भारतवर्ष में विवाह, अन्यत्र के सदृश, एक सुख-मूलक-समारोह नहीं प्रत्युत कर्त्तव्यवाहनमूलक धर्मसंस्कार है। इसलिए भारतीय साहित्य में विवाह के जैसे उच्चस्तरीय गम्भीर वर्णन प्राप्त होते हैं वैसे अन्यत्र नहीं। यहाँ विवाह में विदा का प्रसंग अत्यंत मर्मस्पर्शी होता है। तुलसीदास और जायसी इत्यादि ने इसके सफल वर्णन किए हैं। पार्वती-मंगल में ऐसा वर्णन, संक्षिप्त होते हुए भी, मार्मिक और गम्भीर है :

भेंटि बिदा करि बहुरि भेंटि पहुँचावहिं।
हुँकरि हुँकरि सु लवाइ धेनु जनु धावहिं।।
उमा मातु मुख निरखि नयन जल मोचहिं।
"नारि जनमु जग जाय" सखी कहि सोचहिं।।

काव्य के अन्त में, अपने अन्य अधिकांश ग्रंथों के सदृश ही, तुलसीदास ने सब की मंगलकामना में मूलबद्ध प्रचार-प्रसार-सफल उद्‌गार प्रकट किए हैं; किन्तु इससे पूर्व उन्होंने एक मनोहारी सांग-रूपक के द्वारा रचना-उपादानों का उत्कृष्ट वर्णन भी कर दिया है :

प्रेमपाट पर डोरि गौरि-हर-गुन मनि।
मंगल हार रचेउ कबि मति मृगलोचनि।।
मृगनयनि बिधुबदनी रचेउ मनि मंजु मंगल हार सो।
उर धरहु जुवती जन बिलोकि तिलोक सोभासार सो।।
कल्यान काज उछाह ब्याह सनेह सहित जो गाइहैं।
तुलसी-उमा-संकर-प्रसाद प्रमोद मन प्रिय पाइहैं।

अंतिम छन्द यह संकेत करता है कि ग्रन्थ नारियों को ध्यान में रखकर भी

लिखा गया था। पार्वती-मंगल, जानकी-मंगल, बरवै-रामायण और रामलला-नहछू नारियों को विशेष रूप से ध्यान में रखकर रची गई कृतियाँ हैं। हिन्दी के किसी अन्य कवि ने ऐसा ध्यान रखकर शायद ही कुछ लिखा हो। अतएव, ये कृतियां, विशेषतः नहछू, नारियों में विशेष लोकप्रिय हैं, तो यह स्वाभाविक ही है।

पार्वती-मंगल तुलसीदास की प्रौढ़ कृतियों में एक है। इसकी संतुलित विचारधारा और पुष्ट कला, इसके लघु-खण्डकाव्य होने पर भी, तुलसीदास के कवि-व्यक्तित्त्व की एक उल्लेखनीय उपलब्धि है। इसकी प्रौढ़ता इसे मानस-परवर्ती कृति सिद्ध करती है, और, सम्भव है, महामहोपाध्याय पण्डित सुधाकर द्विवेदी द्वारा प्रतिपादित सम्वत् १६४३ वि० में ही इसकी रचना की गई हो। किन्तु शैली-शिल्प की समानता होते हुए भी, जानकी-मंगल के लिए ऐसा कह सकना कठिन है। एक जैसे आकार-प्रकार की दो कृतियाँ एक ही समय में रची गई हों, यह अनिवार्य नहीं है।

पार्वती-मंगल का ग्रन्थ-व्यक्तित्व स्वतन्त्र और उत्कृष्ट है। इसमें शिव की सर्वोपरिता का आद्यन्त निर्वाह ग्रन्थानुरूप और स्तुत्य है। मानस के शिवविवाह-प्रसंग से यह ग्रन्थ विचारधारा और शैली-शिल्प सभी में पर्याप्त भिन्न है। मर्यादा निर्वाह में यह मानस से भी आगे की कृति है, क्योंकि वहाँ, प्रसंग वश ही सही, स्वयंवर से सुन्दरकाण्ड तक सीता के विषय में स्वाभाविक कथनों पर नियन्त्रण नहीं रखा गया। अलंकरण-सम्पन्नता में भी यह एक गम्भीर कृति है। कालिदास के कुमारसम्भवम् से पार्वती-मंगल की तुलना केवल प्रासंगिक है, यह तथ्य आरम्भ में भी स्पष्ट किया जा चुका है।

१३

जानकी-मंगल

जानकी-मंगल तुलसीदास का प्रसिद्ध खण्डकाव्य है, जिसमें उन्होंने अपने अत्यन्त प्रिय वर्ण्य-विषय सीता-स्वयंवर एवं विवाह को पृथक् ग्रन्थ का रूप प्रदान किया है। मानस, कवितावली, गीतावली एवं बरवै-रामायण में स्वयंवर-विवाह के प्रभावशाली वर्णन प्राप्त होते हैं, किन्तु उनमें वर्ण्य-विषय का पृथक् व्यक्तित्व स्थापित नहीं हो पाता, जैसा कि इसमें होता है। तुससी-ग्रंथावली भाग दो के अत्यन्त संक्षिप्त ग्रंथ-परिचय में इसके रचनाकाल पर लिखा है, "यह पार्वती-मंगल के समय ही का बना ग्रंथ है और भाषा-छन्द आदि सभी में उससे मिलता-जुलता है।" इसी ग्रंथावली के पार्वती-मंगल के ऐसे ही परिचय में उसके रचनाकाल पर लिखा है, "इसका निर्माण :

जय संवत फागुन सुदि पाँचै गुरु दिनु।
अस्विनि बिरचेउँ मंगल सुनि सुख छिनु-छिनु ।।

यह जय संवत् महामहोपाध्याय पण्डित सुधाकर द्विवेदी के अनुसार सं० १६४३ में पड़ता है।" उपर्युत दोनों उद्धरणों के अनुसार जानकी-मंगल सं० १६४३ के आसपास की कृति प्रतीत होती है। किन्तु साहित्यिक दृष्टि से यह कृति मानस-परवर्ती नहीं प्रतीत होती। साहित्यिक दृष्टि से इसे मानस-पूर्ववर्ती कृतियों में ही स्थान प्रदान करना उचित प्रतीत होता है। इसमें मानस के महाकवि का विकास नहीं दृष्टिगोचर होता, उसके आरम्भिक स्तर के दर्शन अवश्य किए जा सकते हैं। इसमें रचना-संवत् का उल्लेख भी नहीं किया गया। पार्वती-मंगल के रूपसाम्य का यह अर्थ नहीं कि यह उसी के साथ रची गयी कृति है। अतएव, साहित्यिक निकष पर जानकी-मंगल मानस-पूर्ववर्ती कृतियों के वर्ग में ही उतरती हैं। मानस-परवर्ती कृतियाँ दोहावली, गीतावली, कवितावली और विनय-पत्रिका इत्यादि ही हो सकती हैं, क्योंकि सृजन-विकास, पुष्टतर काव्यकला एवं जीवन-दर्शन ऐसी सूचना स्वयं दे देते हैं।

जानकी-मंगल में सोहर छन्द के १९२ तुक अर्थात् ३८४ पंक्तियाँ तथा २४ हरिगीतिका छन्द अर्थात् ९६ पंक्तियाँ हैं। १९२ सोहर-तुकों तथा २४ हरिगीतिका छन्दों अर्थात् कुल ४८० पंक्तियों के इस काव्य में वर्ण्य-विषम केवल एक है : सीता

का विवाह। मंगल का अर्थ विवाह भी होता है; जानकी-मंगल के सदृश पार्वती-मंगल में भी इस शुभ शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया गया है। प्रति आठ सोहर-तुकों के बाद एक हरिगीतिका के क्रम से इस ग्रन्थ की रचना की गयी है। इसकी भाषा अवधी है।

काव्य का आरम्भ विभिन्न देवी-देवताओं की वन्दना से होता है, जिसमें 'गुरु गनपति' के प्रयोग पर यत्किञ्चित् ध्यान देना पड़ जाता है। क्या गुरु और गणपति एक हैं: 'नर रूप हरि' अथवा 'नर रूप हर' के सदृश ? यदि ऐसा नहीं है तो अन्य ग्रन्थों के सदृक्ष गणेश या सरस्वती के पूर्व गुरु का उल्लेख क्यों? ऐसा प्रयोग सबलसिंह चौहान भी 'गुरु गनपति के चरन मनैये' कहते हुए करते हैं। लगता है, ऐसे प्रयोग अचिन्तित रूप में, अनायास ही हो गए हैं, जिनके पीछे कोई विशेष कारण नहीं है। कवि ने ग्रंथ के आकार की लघुता को ध्यान में रखते हुए वन्दना केवल तीन पंक्तियों में कर डाली है तथा इसके अनन्तर ही एक पंक्ति में वर्ण्य-विषय की सूचना भी दे दी है:

गुरु, गनपति, गिरिजापति, गौरि, गिरापति।
सारद, सेष, सुकवि, स्रुति, संत, सरलमति॥
हाथ जोरि करि बिनय सबहिं सिर नावौं।
सिय-रघुबीर-बिवाहु जथामति गावौं॥

इसके अनन्तर वह सीधे स्वयंवर के वर्णन पर आ जाता है। जनक की महिमा का वर्णन उचित ही है, क्योंकि वे भारतीय संस्कृति में राजनैतिक पवित्रता के एक चिरंतन प्रतीक बन गए हैं। प्लेटो ने जिस दार्शनिक राजा की चर्चा की है वह जनक के व्यक्तित्व में अनायास प्राप्त हो जाता है। स्वयंवर एवं भावी विवाह का उल्लेख करके कवि विश्वामित्र की अयोध्या-यात्रा का वर्णन करने लगता है। राम-लक्ष्मण के विश्वामित्र के साथ जाने, यज्ञ-रक्षा, अहल्या[१]-उद्धार इत्यादि की चर्चा के पश्चात् राम के जनकपुर पहुँचते ही काव्य का वास्तविक आरम्भ हो जाता है। यहाँ से जो वर्णन-शैली प्राप्त होती है, वह, यत्र-तत्र यत्किञ्चित् भिन्न होते हुए भी, मानस की स्मृति बारम्बार कराती है।

जनक ब्रह्मानन्द-लीन महामानव थे। राम के प्रत्यक्ष दर्शन करने पर उन्हें ब्रह्मानन्द से शतगुण-अधिक आनन्द प्राप्त हुआ; "अवलोकि रामहिं अनुभवत मनु ब्रह्मसुख सौगुन हिए"। मानस में जनक कहते हैं:

इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्म सुखहि मन त्यागा॥

मानस में ही ब्रह्मज्ञानी लोमश से विप्र जन्म-प्राप्त काकभुशुण्डि कहते हैं:

भरि लोचनि बिलोकि अवधेसा। तब सुनिहउं निर्गुन उपदेसा॥

---

१. 'अहिल्या' प्रचलित है, किन्तु शुद्ध अहल्या ही है।

मानस के उत्तरकाण्ड में निर्गुण पर सगुण को सुगमता एवं कलामयता इत्यादि के ठोस एवं व्यावहारिक आधारों पर वरीयता प्रदान की गई है। श्रीकृष्णगीतावली में इसी उद्देश्य की दिशा में भ्रमरगीत की रचना की गई है। किन्तु मानस तथा अन्यत्र भी, अधिकांशतः, एतद्विषयक उद्देश्य की पूर्ति राम के साक्षात् दर्शनजन्य आनन्द के माध्यम से, खण्डन-मण्डन-रहित दृष्टि से की गई है। यह माध्यम सर्वाधिक प्रभावी है। जानकी-मंगल में इसी को ग्रहण किया गया है। निवृत्ति नकारात्मक है, निर्गुण नकारात्मक है; प्रवृत्ति स्वीकारात्मक है, सगुण स्वीकारात्मक है। निवृत्ति नहीं, प्रवृत्ति जीवन की सहज विभूति है। विराग कठोर है; अनुराग कोमल। इसलिए, साकार-भक्ति वरेण्य है। तुलसीदास ने इस तत्त्व को जानकी-मंगल में भी निरूपित किया है :

देखि मनोहर मूरति मन अनुरागेउ।
बँधेउ सनेह बिदेह, बिराग बिरागेउ ।।

विदेह का सदेह राम को देखकर अनुरक्त अथवा विराग-विरक्त होना निर्गुण, निराकार, ज्ञान, योग अथवा निवृत्ति का सगुण, साकार, भक्ति, प्रेम अथवा प्रवृत्ति से अभिभूत होना है। कृष्ण-काव्य में ज्ञानी उद्धव प्रेमी गोपिकाओं से अभिभूत हो जाते हैं। ऐसा होना अकारण नहीं है। इसके पीछे 'अहं ब्रह्मास्मि' और "न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्" का गम्भीर दर्शन विद्यमान है। महाभारत के विनाश की प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप उद्भूत जैन-बौद्धादि मतों के शान्ति-अहिंसापरक स्याद्वाद-नैरात्मवादादि दर्शनों का उदय आत्मा-परमात्मा-विहीन स्थूल 'सर्वम् अनित्यम्', 'सर्वम् अनात्मम् तथा 'निर्वाणं शान्तम्' प्रभृति बिन्दुओं पर केन्द्रित था। परिणामतः मानव-जीवन अथवा मानव-शरीर पापमय अथवा दुर्भाग्यमय समझा जाने लगा। मरुस्थलीय वातावरण में उद्भूत-विकसित व्यक्तिबद्ध मज़हब-इस्लाम, अपने प्रेरक ईसाई मज़हब तथा मूल यहूदी मज़हब की परम्परा पर चलते हुए, स्वर्ग-बहिष्कृत आदम-कथा के कारण जीवन को पापमूलक मानता है। जैन-धर्म अतिशय सीमित हो गया था, बौद्ध-धर्म पृथक् रूप में समाप्त हो चुका था; किन्तु इनके, विशेषतः बौद्ध-धर्म के, परोक्ष प्रभाव नाथ-सम्प्रदाय इत्यादि के माध्यम से विद्यमान थे। इस्लाम से उनकी यत्किञ्चित् संगति बैठ जाती थी। जाने या अनजाने अनेक महानुभाव इस संगति से अभिभूत थे। इस स्थिति में, मानव-जीवन अथवा मानव-शरीर की गरिमा का प्रतिपादन आवश्यक था; अवतारवाद इस प्रतिपादन का चरम उत्कर्ष है। उसकी महान् प्रतिष्ठा एवं लोकप्रियता सर्वथा सकारण है। तुलसीदास इस प्रतिष्ठा एवं लोकप्रियता के सर्वोपरि वाहक थे :

प्रमुदित हृदय सराहत भल भवसागर।
जहँ उपजहिं अस मानिक, बिधि बड़ नागर ।।

जानकी-मंगल में जनक के माध्यम से व्यक्त किया गया यह सर्वोपरि उद्‌गार महान् आशावाद एवं मानववाद का उज्ज्वल प्रतीक है। तुलसीदास ने ऐसे उद्‌गार सर्वत्र प्रकट किए हैं। ऐसे उद्‌गारों की गम्भीरता से परिचित हुए बिना तुलसीदास की गम्भीरता से परिचित हो पाना सम्भव नहीं है। उदात्त भक्ति स्वार्थ को परमार्थ से श्रेष्ठतर बना देती है :

विषय विमुख मन मोर सेइ परमारथ।
इन्हहिं देखि भयो मगन जानि बड़ स्वारथ ॥

हिन्दी-साहित्य में सौन्दर्य के सबसे महान् कवि तुलसीदास हैं। उनका सौन्दर्य-लोक अतीव व्यापक है। शिशु राम, बालक राम, किशोर राम, तरुण राम, आखेटक राम, वीर राम, धनुर्धर राम, प्रेमी राम, विरही राम, योद्धा राम, करुणा-विगलित राम, संक्षेप में, राम उनकी विश्व-वाङ्मय में अतुलनीय सौन्दर्य-दृष्टि के केन्द्र-बिन्दु हैं। किन्तु उन्होंने सीता, लक्ष्मण, पार्वती, कृष्ण इत्यादि के सौन्दर्य-वर्णनों में भी पूर्ण सफलता प्राप्त की है। तुलसीदास का सौन्दर्य शील-पुष्ट सौन्दर्य है, तृष्णाकारी विलासमय सौन्दर्य नहीं। राम का सौन्दर्य शील-पुष्ट होने के साथ-साथ शक्ति-पुष्ट भी है। शील-शक्ति-पुष्ट राम का सौन्दर्य पूर्णतम सौन्दर्य है; इसीलिए, वह ब्रह्म-सौन्दर्य है। तुलसीदास की प्रत्येक राम-सम्बद्ध कृति राम-सौन्दर्य से ओतप्रोत है। जानकी-मंगल इसका अपवाद कैसे होता! राम-लक्ष्मण स्वयंवर में शोभित हैं :

राजत राज समाज जुगल रघुकुलमनि।
मनहुँ सरदबिधु उभय, नखत धरनीमनि ॥
तिलक ललित सर, भ्रुकुटी काम-कमानै।
स्रवन बिभूषन रुचिर देखि मन मानै ॥
नासा चिबुक कपोल अधर रद सुन्दर।
बदन सरद-बिधु-निंदक सहज मनोहर ॥
उर बिसाल बृष-कंध सुभग भुज अति बल।
पीत बसन, उपवीत, कंठ मुक्ताफल ॥
कटि निषंग, कर-कमल धरे धनु-सायक।
सकल अंग मनमोहन जोहन लायक ॥

यह सशक्त-सजग पुरुष-सौन्दर्य है। इसका अवलोकन ऊर्जा का प्रेरक है, पवित्रता का प्रेरक है, आशा का प्रेरक है। यह सुकुमार-अर्द्धपुरुष का विलासोत्तेजक सौन्दर्य नहीं है, जो शैया-सीमित होता है, व्यर्थ दीर्घोच्छ्वासकारक होता है, उपालम्भों का निलय होता है। इसका अवलोकन कर जनकपुर के आबाल-वृद्ध नर-नारी आनन्दित और आशान्वित हो रहे हैं। प्रेमातिरेक में, कभी राम के शक्ति-पक्ष से आश्वस्त होकर शिव-धनुष के तोड़े जाने और उनके सीता के साथ

विवाह होने की चर्चा करते हैं, कभी उनके रूपमार्दवपक्ष से अभिभूत होकर इस अत्यन्त कठिन कार्य के सम्पन्न होने में शंकाएँ करने लगते हैं। प्रेम शंकाओं का शाश्वत क्रोड़ है। तुलसीदास ने मानस से लेकर जानकी-मंगल तक सर्वत्र प्रेम के शंका-तत्त्व का मनोहारी चित्रण किया है। राम को देखकर राज-समाज में व्याप्त स्वाभाविक निराशा तथा द्विधा का यह वर्णन जानकी-मंगल के श्रेष्ठ अंशों में एक है :

भे निरास सब भूप बिलोकत रामहिं।
"पन परिहरि सिय देब जनक बर स्यामहिं॥"
कहहिं एक "भलि बात, ब्याहु भल होइहि।
बर दुलहिन लगि जनक अपन पन खोइहि॥"
सुचि सुजान नृप कहहिं "हमहिं अस सूझइ।
तेज प्रताप रूप जहँ तहँ बल बूझइ॥"

अन्तिम पंक्ति का अर्थान्तरन्यास प्रसंगोचित भी है, सार्वभौम भी। इसी प्रसंग में तुलसीरस का एक पीयूषबिन्दु :

कस न पियहु भरि लोचन रूप सुधारसु।
करहु कृतारथ जनम, होउ कस नरपसु॥

मानस के सदृश, जानकी-मंगल के स्वयंवर-वर्णन में जनक के प्रण पर नारियों, सीता की माता सुनयना इत्यादि की अनौचित्य-चर्चा संक्षिप्त पर अच्छी हुई है। यहाँ सुनयना को सान्त्वना अत्यन्त संक्षिप्त किन्तु प्रभावी शब्दों में दी गई है :

देवि! सोच परिहरिय, हरष हिय आनिय।
चाप चढ़ाउब राम, बचन फुर मानिय॥
तीनि काल कर ज्ञान कौसिकहि करतल।
सो कि स्वयंबर आनहि बालक बिनु बल॥

यद्यपि उसमें मानस का-सा बौद्धिक और कलात्मक निदर्शन-विधान नहीं है :

बोली चतुर सखी मृदु बानी। तेजबंत लघु गनिय न रानी॥
कहँ कुंभज कहँ सिंधु अपारा। सोखेउ सुजसु सकल संसारा॥
रबिमंडल देखत लघु लागा। उदय तासु त्रिभुवन तम भागा॥
मंत्र परमलघु जासु बस बिधि हरि हर सुर सर्ब।
महामत्त गजराज कहुँ बस कर अंकुस खर्ब॥

यहाँ सीता की शोभा का भी अच्छा वर्णन किया गया है। जानकी-मंगल में, वाल्मीकि-रामायण की परम्परा का अनुगमन करते हुए, तुलसीदास ने पुष्प-वाटिका प्रसंग नहीं रखा। इस दृष्टि से मानस भिन्न है। मानस में सीता का

राम के प्रति प्रेम पूर्वराग-संपुष्ट होने के कारण स्वभावत: अधिक सजीव बन पड़ा है। यहाँ इस दिशा में कवि ठीक ही आगे नहीं बढ़ा। यहाँ उसने राम-सीता की युग्म-कल्पना में विह्वल नर-नारियों का सुन्दर चित्रण करने में सफलता प्राप्त की है :

छिनु सीतहि छिनु रामहिं पुरजन देखहिं।
रूप सील बय बंस बिसेष बिसेखहिं॥

और, राम-सीता के दर्शनों में खोए लोगों की मन्त्र-मुग्धता का यहाँ दृष्टान्त-सम्पन्न वर्णन मानस के "गिरा अनयन नयन बिन बानी" जैसे विश्व-काव्य में प्रथम श्रेणी के शब्दों की सर्वथा उचित स्मृति कराता है :

सो छबि जाइ कि बरनि, देखि मन मानै।
सुधापान करि मूक कि स्वाद बखानै॥

ऐसे उद्‌गार, अपने ढंग से, कबीर ने भी प्रकट किए हैं :

अकथ कहानी प्रेम की किछू कही न जाई।
गूँगे केरी सरकरा बैठी मुसुकाई॥

और दादू ने भी 'गूँगे का गुड़' खाकर 'हैरान' होने की बात कही है। किन्तु सूर के शब्दों में "रूप रेख गुन जाति जुगुति बिन निरालम्ब मन चकृत धावै।" का यहाँ जो व्यक्त बिम्ब विद्यमान है, वह वहाँ सम्भव नहीं। क्या आश्चर्य, इस साकार शोभा ने निराकार की कल्पना का प्रभाव अत्यन्त सीमित कर दिया !

सटीक कैतवापह्नुति, चित्रोपम उदाहरण, सूक्ष्म उपमा, पुनः गूढ़ार्थमय उदाहरण प्रभृति अलंकारों से युक्त, 'टकटोरि' जैसे व्यंग्य-सम्पन्न प्रयोग की शोभा से विलसित निम्नलिखित छन्द में स्वयंवर-समारोह में उपस्थित राजाओं के व्यर्थ प्रयासों का वर्णन मानस के एतद्‌विषयक वर्णन से बढ़ा-चढ़ा है :

नहिं सगुन पायेउ रहे मिसु करि एकु धनु देखन गए।
टटटोरि कपि ज्यों नारियरु सिर नाइ सब बैठत भए॥
इक करहिं दाप, न चाप सज्जन बचन जिमि टारे टरै।
नृप नहुष ज्यों सबके बिलोकत बुद्धिबल बरबस हरै॥

किसी राजा-महाराजा के द्वारा शिव-धनुष के न उठाए जा सकने पर मानस में जनक ने परिताप किया है, "बीर विहीन मही मैं जानी" तक कह डाला है, इस पर लक्ष्मण ने क्रोध किया है। जानकी-मंगल में ऐसा नहीं है। यहाँ विश्वामित्र के जनक से, राम को प्रयास करने का आदेश देने के लिए अनुरोध करने पर, जनक के उद्‌गार इस प्रकार प्रकट किए गए हैं :

मुनिबर ! तुम्हरे बचन मेरु महि डोलहिं।
तदपि उचित आचरत पाँच भल बोलहिं॥

बानु बानु जिमि गयउ, गवहिं दसकंधरु।
को अवनीतल इन्ह सम बीर धुरंधरु॥
पारबती-मन सरिस अचल धनुचालक।
हहिं पुरारि तेउ एक-नारिब्रत-पालक॥
सो धनु कहि अवलोकन भूप-किसोरहि।
भेद कि सिरिस-सुमन-कन कुलिस कठोरहि॥

उपर्युक्त छन्द प्रोक्ति तथा यमक, उपमा, दृष्टान्त इत्यादि अलंकारों से युक्त है, जिसकी अन्तिम पंक्ति मानस के "सिरिस-सुमन-कन बेधिय हीरा" की व्यंजना से भी आगे तक ले जाती है। इस सबके पश्चात् राम धनुष तोड़ देते हैं। जानकी-मंगल में, रामाज्ञा-प्रश्न के सदृश, केशवदास की रामचन्द्रिका के सदृश, परशुराम स्वयंवर-स्थल में नहीं आते प्रत्युत अयोध्या के पथ पर मिलते हैं। वाल्मीकि-रामायण में ऐसा ही है। उसमें स्वयंवर का मानसादि ग्रन्थों-जैसा आयोजन भी नहीं है। मानस में, कोलाहल, निराशा, आशंका इत्यादि से भरे स्वयंवर-समारोह के वातावरण में ही, रौद्ररसपूर्ण परशुराम प्रसंग भी समाप्त कर देना, तुलसीदास की राम-सीता-विवाह से लेकर अयोध्या पहुँचने इत्यादि तक के मांगलिक वर्णन को एकरस तन्मयता से सम्पन्न करने की उत्कृष्ट प्रतिभा का सूचक है।

जानकी-मंगल में विवाह का विस्तृत वर्णन स्वाभाविक ही है। तुलसीदास, स्वयं विरक्त होते हुए भी, समाज में संस्कारों के महत्त्व से भली-भाँति परिचित थे। इस दिशा में भी वे मानव-मनोविज्ञान के अच्छे पारखी सिद्ध होते हैं। वे संस्कारों अथवा समारोहों की व्यर्थ ही निन्दा करना उचित नहीं समझते। मानस, कवितावली, गीतावली, जानकी-मंगल, पार्वती-मंगल, बरवै-रामायण, और रामललानहछू इस तथ्य को पूर्णतः स्पष्ट कर देते हैं। यद्यपि तुलसीदास ने, अन्य सम्बद्ध ग्रन्थों के सदृश ही, जानकी-मंगल में विवाह का वर्णन अपने युग से बहुत प्रभावित होकर किया है तथापि उनकी एतद्विषयक मूल रुचि वाल्मीकि की समता अवश्य करती हैं। अन्त प्रचार-प्रसार में सक्षम एवं विषय के अनुकूल मंगलमय है :

उपवीत व्याह उछाह जे सियराम-मंगल गावहीं।
तुलसी सकल कल्यान ते नर-नारि अनुदिन पावहीं॥

जानकी-मंगल एक वर्णनात्मक खण्डकाव्य है, जिसके अनेक स्थल काव्य-कला की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं, किन्तु इसकी सबसे बड़ी कमी, शीर्षक से ही स्पष्ट, नायिका के व्यक्तित्व का अपर्याप्त समावेश अथवा उसके चरित्र-चित्रण का नगण्यवत् अस्तित्व है। काव्य पर राम-ही-राम छाए रहते हैं। इसी दृष्टि से इसका शीर्षक 'राम-विवाह' उचित होता। कोई कह सकता हैं, इस काव्य का वर्ण्य-विषय ऐसा है जिसमें मर्यादा से लेकर स्वाभाविकता

तक, कहीं भी, सीता को अधिक व्यापक रूप में प्रस्तुत करना उचित न होता। उत्तर में निवेदन है, मानस में इसी वर्ण्य-विषय के भीतर सीता का अतीव सुन्दर, अतीव स्वाभाविक और अतीव पावन चित्रांकन प्राप्त होता है।

मानस में भी सीता का चित्रण उतना प्रभावशाली नहीं है चितना वह वाल्मीकि की रामायण में है। वाल्मिीकि की सीता, वनगमन के अवसर पर, दण्डकारण्य में, पञ्चवटी में, यहाँ तक कि लंका से लौटने के तत्काल पश्चात् भी, सशक्त व्यक्तित्व से सम्पन्न हैं। वे वनगमन के उपयुक्त तर्क देती हैं। वनवास-काल में राम को अनावश्यक शत्रुसंख्यावृद्धि न करने का परामर्श देती हैं, लंका से लौटने पर राम के आवेशाच्छादित वचनों का प्रत्याख्यान करती हैं, लंका में उनका व्यक्तित्व पतिव्रतबल से सम्पन्न रहता ही है। तुलसीदास ने सीता के व्यक्तित्व का सर्वांगीण चित्रण कहीं नहीं किया। उन्होंने उनके महान् एवं पावन सौन्दर्य, अचल एवं स्थायी प्रेम, अतुलनीय एवं अभूतपूर्व पतिव्रत के वर्णन अवश्य किए हैं, किन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है। सीता जैसी महानतम नारी के व्यक्तित्व का चित्रण इससे आगे बढ़कर आदिकवि ही कर गए थे। राम के व्यक्तित्व का चित्रण अनवरत रूप से आगे बढ़ा है। तुलसीदास ने उसे पूर्णता प्रदान की है। वे सीता के सन्दर्भ में भी ऐसा ही कर सकते थे।

इसका यह अर्थ नहीं है कि मैं सीता के चरित्र-चित्रण की कोई नवकल्पित रूपरेखा प्रतिपादित कर रहा हूँ। सीता नारीत्व की मूर्ति हैं। नारी का तन, मन, जीवन सब-कुछ समर्पण, सेवा और वत्सलता के ही अनुकूल होता है। इन्हीं गुणों के कारण वह पूज्य है। पुरुष को नारी के गुणों की आवश्यकता है, नारी को पुरुष के गुणों की नहीं। पुरुष के गुण परुष हैं। प्रेमचन्द 'गोदान' में ठीक कहते हैं, "पुरुष में नारी के गुण आ जाते हैं तो वह देवता हो जाता है, नारी में पुरुष के गुण आ जाते हैं तो वह कुल्टा हो जाती है।" मैथिलीशरण गुप्त ने 'पंचवटी' में लक्ष्मण के द्वारा यही बात इन शब्दों में कहलाई है :

नारी के जिस भव्य भाव का साभिमान भाषी हूँ मैं।
उसे नरों में भी पाने का उत्सुक अभिलाषी हूँ मैं॥

प्रसाद ने 'अजातशत्रु' नाटक में विस्तार से और 'कामायनी' में "नारी, तुम केवल श्रद्धा हो" तथा "सिर चढ़ी रही पाया न हृदय" प्रभृति सूत्रों में यही बात कही है। मेरा अभिप्राय केवल सीता के अनुरूप चित्रण से है, जिसका एक अत्यन्त विशद रूप आदि-कवि प्रस्तुत कर चुके हैं, जिसका निष्कर्ष "काव्यं रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितं महत्" है। रामायण का उत्तरकाण्ड प्रक्षिप्त हो सकता है, किन्तु उक्त शब्दावली वाल्मीकि की अनुभूति के शतशः अनुकूल है।

आधुनिक भारत के एक असाधारण मनीषी नेता स्वर्गीय डॉ० राममनोहर लोहिया "आज की नारी का आदर्श सीता नहीं, द्रौपदी" का चिन्तन-बिन्दु प्रायशः

प्रस्तुत किया करते थे। लोहिया हमारे साहित्य के सजग अध्येता थे, पश्चिम में उच्चतम शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् भी, राजनीति में व्यस्त रहते हुए भी। उन्होंने "तुलसी में सात्त्विक रस, सूर में मधुर रस और कबीर में कोरा रस" की जो चर्चा की थी वह कविता-सुधासागर में उनकी गहरी पैठ की सूचक है। अपने ही शब्दों में नास्तिक समाजवादी होते हुए भी, उन्होंने चित्रकूट में रामायण मेला (मानस-मेला) लगवाया था। भक्ति की तन्मयता-विभूति से वे गांधी के सदृश ही परिचित थे। अतएव उनके उपर्युक्त नारे को राजनीतिज्ञों के खोखले नारों में एक मानकर टाला नहीं जाना चाहिए। मेरी समझ में उक्त चिन्तन-बिन्दु का अभिप्राय है, नारी को प्रतिक्रिया-सम्बद्ध नहीं, सक्रिय होना चाहिए। सीता सहिष्णुता की सजीव प्रतिमा हैं। द्रौपदी प्रतिहिंसा की ज्वाला की सजीव प्रतिमा हैं। द्रौपदी प्रतिशोध की दीपशिखा हैं जो अपमान और अत्याचार करने वाले दुःशासनादि के रक्त से केश मुक्त करती हैं। सीता और द्रौपदी दो व्यक्तित्व ही नहीं हैं, दो प्रतीक भी हैं। लोहिया के प्रति अपने व्यक्तिगत सम्बन्धजन्य सम्मान और उनके प्रखर बौद्धिक सामर्थ्य के प्रति श्रद्धाभाव के होते हुए भी मैं इस बिन्दु से सहमत नहीं हूँ। नारी प्रकृति से सरक्त नहीं, अनुरक्त प्राणी है। नारी चण्डी बन सकती है, किन्तु स्वभाव से वैसी नहीं है। द्रौपदी को भी परिस्थितियों ने चण्डी बनाया था। नारी के तप और आत्मपीड़न में भी अपार शक्ति निहित है। सीता नारीत्व की एकरस-पावन प्रतिमा हैं। वे नारी के लिए चिरन्तन आदर्श हैं। सीता क्रिया हैं, द्रौपदी प्रतिक्रिया। क्रिया चिरन्तन है, प्रतिक्रिया सामयिक। अतएव सीता का आदर्श चिरन्तन है।

मध्यकालीन परिस्थितियों की कठोरता में नारी के सम्यक् चित्रण का अनुकूल वातावरण विद्यमान न था। अतएव, तुलसीदास नारी-पात्रों के चित्रण में बहुत सफल नहीं हो पाए तो आश्चर्य की कोई बात नहीं है। यों उन्होंने सीता, कौसल्या, सुमित्रा इत्यादि के भावपूर्ण चित्र भी खींचे हैं, इसमें सन्देह नहीं।

१४
बरवै-रामायण

बरवै-रामायण तुलसीदास की एक लघु किन्तु महत्त्वपूर्ण कलाकृति है। तुलसी काव्यकला-कलेवर की मुद्रिका बरवै-रामायण अलंकारवाद-चमत्कारवाद की दिशा में सृजित पुस्तिका है। इस पुस्तिका से यह स्पष्ट हो जाता है कि तुलसीदास अलंकृत-चमत्कृत शैली की कविता लिखने में भी समर्थ थे। जिसे मिश्रबन्धु अलंकृतकाल, रामचन्द्र शुक्ल रीतिकाल, रामशंकर शुक्ल 'रसाल' कलाकाल और विश्वनाथप्रसाद मिश्र शृंगारकाल कहते हैं। उसके अनुकूल ऐतिहासिक एवं साहित्यिक पृष्ठभूमि भक्तिकाल के उत्तरार्ध में बननी स्वाभाविक थी। कृपाराम, केशवदास, रहीम इत्यादि की अनेक कृतियाँ इस तथ्य को स्पष्ट करती हैं। तुलसीदास की गीतावली के अनेक अंश, कवितावली की अलंकार-योजना एवं बरवै-रामायण इत्यादि इसी दिशा के सूचक हैं। बरवै छन्द शृंगाररस के अत्यन्त अनुकूल है: सुकुमार अनुभूति एवं प्राञ्जल अभिव्यक्त में सक्षम। रहीम की बरवै-नायिकाभेद कृति इस तथ्य का अपर निदर्शन है। ऐसा प्रसिद्ध है कि गोस्वामी जी ने बरवै-रामायण की रचना रहीम के आग्रह पर तथा उनकी इस कृति को देखकर की थी। रहीम (अब्दुर्रहीम खानेखाना) सम्वत् १६४६-४८ विक्रमी (१५८९-९१ ई०) के बीच काशी के प्रशासक थे। तुलसीदास और उनकी मित्रता जग-जाहिर है। बरवै पूर्वी-अवधी का प्रिय छन्द है। तुलसी ने इसे भी ध्यान में रखा है।

बरवै-रामायण में कुल उन्हत्तर छन्द हैं; १३८ पंक्तियाँ। शृंगार रस के कुछ विशेष स्पष्ट संकेतों के कारण मिश्रबन्धु प्रभृति विद्वानों ने इसे तुलसीकृत नहीं माना। कतिपय महानुभाव इसे भक्ति-उन्मेष-पूर्व की कृति बतलाते हैं; तुलसी के यौवन में रचित। किन्तु बरवै-रामायण में भक्ति-भावना की कमी नहीं है, ग्रन्थ का सबसे बड़ा भाग उत्तरकाण्ड केवल भक्ति-भावना से आपूर्ण है। शृंगार रस-राज है; तुलसी इस तथ्य से भली-भाँति परिचित थे। मानस, कवितावली, गीता-वली, जानकी-मंगल इत्यादि में भी शृंगार प्रभावी रूप में विद्यमान है। अतएव, उपर्युक्त मान्यताएँ निराधार प्रतीत होती हैं। मर्यादा को जीवनरस-विरोधिनी मानना भारत की महान् संस्कृति से अपरिचय की सूचना देना है। भारतीय

संस्कृति के विश्वकोष तुलसीदास को किसी एक संकीर्ण दृष्टिकोण से देखना अपनी सीमाओं से अभिभूत होना मात्र है।

यद्यपि बरवै-रामायण, मानस, कवितावली और गीतावली के सदृश बाल, अयोध्या, अरण्य, किष्किन्धा, सुन्दर, लंका और उत्तर इन सात काण्डों में विभक्त है तथापि प्रबन्धरचना नहीं है क्योंकि इसमें किसी कथानक का आयोजन नहीं किया गया। यह एक मुक्तकाव्य है। काण्ड केवल नाम के लिए हैं, यद्यपि यह स्पष्ट है कि उनमें मूल वर्ण्य-विषय-सम्बद्धता का निर्वाह किया गया है, अर्थात् जिस काण्ड में मानसादि में जो वर्णन है उनमें से ही किसी या किन्हीं को यहाँ भी प्रस्तुत किया गया है। विभिन्न काण्डों में छन्द-संख्या किसी क्रम से नहीं रखी गई। बाल में उन्नीस, अयोध्या में आठ, अरण्य में छह, किष्किन्धा में दो, सुन्दर में छह, लंका में केवल एक और उत्तर में सत्ताईस छन्द हैं।

कला की दृष्टि से बालकाण्ड और भक्तिभावना की दृष्टि से उत्तरकाण्ड बरवै-रामायण के उत्कृष्टतम अंश हैं। सुन्दर-काण्ड में अत्युक्तिपूर्ण शैली का विरह-वर्णन परवर्ती रीतिकाल के बिहारी और मतिराम के विरह-वर्णनों की स्मृति कराता है। बरवै-रामायण का बालकाण्ड अलंकृत-काव्यशैली का एक अत्यन्त उत्कृष्ट निदर्शन है। प्रथम छन्द में ही छेकानुप्रास के साथ तद्गुण (केवल प्रथम पंक्ति की दृष्टि से) तथा पूर्वरूप अलंकारों का मनोहारी प्रयोग प्राप्त होता है :

केस-मुकुत सखि मरकत मनिमय होत।
हाथ लेत पुनि मुकुता करत उदोत॥

इस छन्द को पढ़ने पर मतिराम के "मुकुतहार हरि के हिए मरकत मनिमय होत" शब्द ध्यान में आ जाते हैं। द्वितीय तथा तृतीय छन्द व्यतिरेक के सुन्दर उदाहरणों के रूपों में विख्यात हैं, जिनमें प्रथम कोमलावृत्ति-सम्पन्न अनुप्रास से भी अलंकृत है :

सम सुबरन सुखमाकर सुखद न थोर।
सीप अंग सखि कोमल कनक कठोर॥
सिय मुख सरदकमल जिमि किमि कहि जाइ।
निसि मलीन वह निसि दिन यह बिगसाइ॥

दूसरा छन्द मानस के इस प्रसिद्ध दोहे में अधिक कारण देता दीखता है :

जनम सिंधु पुनि बंधु विषु दिन मलीन सकलंक।
सियमुख समता पाव किमि चन्दु बापुरो रंक॥

जायसी ने पद्मावत में नायिका के भाल के प्रसंग में कुछ ऐसे ही उद्गार प्रकट किए हैं :

का सरिवर तेहि देउँ मयंकू। चाँद कलंकी वह निकलंकू।।
औ चाँदहिं पुनि राहु गरासा। वह बिनु राहु सदा परगासा।।

सुषमामय आनन अथवा भाल से चन्द्रमा इसी प्रकार परास्त किया जाता रहा है; अस्तु। उन्मीलित अलंकृत में यह बरवै :

चम्पक हरवा अंग मिलि अधिक सोहाइ।
जानि परै सिय हियरे जब कुँभिलाइ।।

बिहारी के इस दोहे की याद दिलाता है :

रंच न लखियत पहिरियो, कंचन से तन बाल।
कुम्हिलानी जानी परै, उर चम्पे की माल।।

तद्गुण के उदाहरण के रूप में प्रसिद्ध यह बरवै ध्वनि-सौन्दर्य से भी सम्पन्न है :

सिय ! तुव अंग-रंग मिलि अधिक उदोत।
हार बेलि पहिरावौं चम्पक होत।।

बालकाण्ड में सीता का सौन्दर्य मुख्य वर्ण्य-विषय है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि राम का ध्यान ही न रखा गया हो। तुलसी रामकथा के किसी भी पक्ष को राम-रहित नहीं रख सकते, फिर, यहाँ तो वर्णन स्वयंवर का है। रूपकातिशयोक्ति से आरम्भ और रूपक में समाप्त यह बरवै मानस के "उदित उदयगिरि मंच पर रघुबर बाल पतंग" का प्रतिद्वन्द्वी प्रतीत होता है :

नित्य नेम-कृत अरुन उदय जब कीन।
निरखि निसाकर-नृप-मुख भए मलीन।।

बरवै-रामायण एक मुक्तक-काव्य है। इसमें वर्ण्य-विषय-सम्बद्धता का अनुसन्धान समीचीन नहीं। बालकाण्ड की रचना का तो एकमात्र उद्देश्य ही अलंकार-निरूपण है। एक प्रसिद्ध छन्द :

का घूंघट मुख मूँदहु अबला नारि ?
चाँद सरग पर सोहत यहि अनुहारि।।

प्रतीप का सुन्दर उदाहरण माना जाता है। किन्तु इसमें कतिपय अन्य सूक्ष्मतर अलंकारों का संव्यूहन कहीं अधिक मनोहारी है। 'अबला नारि' में 'अबला' बाह्यतः व्यर्थ का शब्दव्यय प्रतीत होता है, किन्तु उसे विशेषण माना जाए तो इन दो शब्दों में पुनरुक्तवदाभास का सुन्दर प्रयोग प्रकटतः दृष्टिगोचर हो जाएगा। 'चाँद' पुल्लिगवाची है, अतएव 'अबला' का विशेषण सार्थक हो जाता है जिससे परिकर का समावेश हो जाता है। व्याजस्तुति तो स्पष्ट है ही। 'अबला' के स्थान पर 'नबला' पाठ भी प्राप्त होता है। प्रतीप का एक अन्य उदाहरण अत्यन्त प्रसिद्ध है :

गरब करहु रघुनन्दन ! जनि मन माँह।
देखहु आपनि मूरति सिय कै छाँह।।

किन्तु इसमें शरीर-छायागत अन्योन्य की गम्भीर ध्वनि भी विद्यमान है। यदि कोई चाहे तो प्रतिबिम्बवाद की दार्शनिकता तक जा सकता है। प्रकटतः, श्यामता धवलता से पराभूत हो ही जाती है; बिहारी का "स्याम हरित दुति होय" इसी जाति की निष्पत्ति है।

बालकाण्ड के अठारहवें बरवै में संयोगश्रृंगार का पर्याप्त स्पष्ट किन्तु मर्यादित संकेत प्राप्त होता है, जिसमें कैतवापह्नुति का अलंकरण भी विद्यमान है :

उठी सखी हँसि मिस करि कहि मृदु बैन।
सिय रघुबर के भए उनींदे नैन।।

राठौड़राज प्रिथीराज ने अपनी उत्कृष्ट राजस्थानी कृति "बेलि क्रिसन रुकमणी री" में ऐसा वर्णन अधिक सूक्ष्मता एवं चित्रमयता के साथ किया है :

बर नारि नेत्र निज बदन बिलासा जाणियै अन्तहकरण नई।
हँसि-हँसि भ्रूहे हेक-हेक हुई ग्रिह-बाहिर सहचरी गई।।

किन्तु रीतिकाल के अमर कलाकार बिहारी ने ऐसा वर्णन एकदम स्थूल करना उचित समझा क्योंकि दरबार में उसका ऐसा ही रूप उपयोगी था :

पति रति की बतियाँ कहीं, सखी लखी मुसुकाय।
करिकै सबै टलाटली, अली चलीं सुख पाय।।

बालकाण्ड का अन्तिम अर्थात् उन्नीसवाँ बरवै राम के बालजीवन से सम्बद्ध है। उसका काण्ड के समूचे प्रसंग से भी कोई सम्बन्ध नहीं है। लगता है, तुलसीकृत होने के कारण ही किसी श्रद्धालु भक्त ने इसे यहाँ स्थान दे दिया है। श्रद्धालु संकलनकर्त्ता तुलसीदास का एक भी बरवै छोड़ नहीं सका। बरवै यह है :

सींक धनुष, हित सिखन, सकुचि प्रभु लीन।
मुदित माँगि इक धनुही नृप हँसि दीन।।

बरवै-रामायण का बालकाण्ड सीता के सौन्दर्य-वर्णन के लिए विख्यात है। किन्तु इसमें राम के गौरव एवं वर्णनातीत महत्त्व का पर्याप्त उल्लेख भी है। इसमें स्वयंवर और दाम्पत्य-जीवन दोनों की झाँकियाँ भी दिखलाई गई हैं।

अयोध्याकाण्ड में मन्थरा की कुमन्त्रणा और वनगमन का वर्णन है। वनगमन तुलसीदास का प्रियतर वर्ण्य-विषय है; रामचरितमानस में, कवितावली में, गीतावली में। इस अतिलघुकाव्य में भी उन्होंने इसे स्थान प्रदान किया है। निम्नलिखित तीन छन्दों में क्रमशः उल्लेख, व्यतिरेक एवं पुनरुक्तवदाभास अलंकारों के प्रयोग उल्लेखनीय हैं; तृतीय में अपह्नुति और यमक भी दर्शनीय हैं :

कोउ कह नरनारायन, हरिहर कोउ।
कोउ कह बिहरत बन मधु मनसिज दोउ।।

कमल कंटकित सजनी, कोमल पाइ।
निसि मलीन, यह प्रफुलित नित दरसाइ ।।
द्वै भुज कर हरि रघुबर सुन्दर बेष।
एक जीभ कर लछिमन दूसर शेष ।।

अरण्यकाण्ड में कबीर की उलटबाँसी और सूर के दृष्टकूट का स्मरण कराने वाली चमत्कारमूलक शैली का यह प्रथम बरवै उल्लेख योग्य है :

वेद नाम कहि अँगुरिन खंडि अकास।
पठयो सूपनखाहि लषन के पास ।।

यहाँ 'वेदनाम' श्रुति अथवा कर्ण तथा 'अकास' नाक (स्वर्ग) अथवा नासिका का संकेत करता है। इसके तीसरे बरवै में स्वभावोक्ति-सम्पन्न चित्रोपम वर्णन प्राप्त होता है :

जटामुकुट, कर सर धनु, संग मरीच।
चितवनि बसत कनखियनु अँखियनु बीच ।।

इसी काण्ड में रूपकातिशयोक्ति एवं स्मरण प्रभृति अलंकारों से सम्पन्न चमत्कारपूर्ण विरह-वर्णन के ये तीन बरवै भी मिलते हैं :

कनक सलाक, कलाससि दीप सिखाउ।
तारा सिय कहँ लछिमन मोहिं बताउ ।।
सीय बरन सम केतकि अति हिय हारि।
किएसि भँवर कर हरवा हृदय बिदारि ।।
सीतलता ससि की रहि सब जग छाइ।
अगिनिताप ह्वै तन कहँ सँचरत आइ ।।

किष्किन्धाकाण्ड में केवल दो छन्द हैं, जिनमें दूसरा व्याजस्तुति का सुन्दर उदाहरण है :

कुजनपाल, गुनबर्जित, अकुल, अनाथ।
कहहुँ कृपानिधि राउर कस गुननाथ ।।

बरवै-रामायण का सुन्दरकाण्ड अपने आलंकारिक-चामत्कारिक विरह-वर्णन के लिए प्रसिद्ध है। इस वर्णन का मानस एवं गीतावली के एतद्‌विषयक वर्णनों से तुलना की जा सकती है। कुल छह छन्द हैं, पर प्रत्येक अपनी-अपनी दृष्टि से उल्लेखनीय। पहली दो पंक्तियाँ :

बिरह आगि उर ऊपर जब अधिकाय।
ये अखियाँ दोउ बैरिनि देहिं बुझाय ।।

मानस की इन पंक्तियों :

अवगुन एक मोर मैं जाना। बिछुरत प्रान न कीन्ह पयाना ।।
नाथ सो नयनन्हि को अपराधा। निसरत प्रान करहिं हठि बाधा ।।

बिरह अगिनि तनु तूल समीरा। स्वास जरइ छन माँहि सरीरा।।
नयन स्रवहिं जलु निज हित लागी। जरैं न पाव देह बिरहागी।।

तथा गीतावली की इन पंक्तियों :

बिरह-अनल स्वासा-समीर निज तनु जरिबे कहँ रही न कछू सक।
अति बल जल बरषत दोउ लोचन दिन अरु रैन रहत एकहिं तक।।

की स्मृति करा देती हैं। तुलसीदास की विराट् प्रतिभा बिना उनके लघु-ग्रंथ पढ़े समझ में नहीं आ सकती। और, इस दृष्टि से, उनके लघु-ग्रंथों में बरवै-रामायण सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसमें आदि से अन्त तक उनकी विशाल प्रतिभा दृष्टिगोचर होती चली जाती है। उपर्युक्त वर्णन-शैली के दर्शन देव प्रभृति कवियों की "सखियाँ वै मोरी मोहि अखियाँ न सींचती तौ, याही रतिया में जाती छतिया छ टूक ह्वै" प्रभृति उद्‌भावनाओं में किए जा सकते हैं। दूसरा बरवै :

डहकु न, है उजियरिया निसि, नहिं घाम।
जगत जरत अस लागु मोहिं बिनु राम।।

प्रचलित अत्युक्तिपूर्ण चमत्कार में बिहारी के निम्नलिखित दोहे का पूर्वज प्रतीत होता है :

कै हौं ही बौरी भई, कै बौरो सब गाँव।
कहा जानि कै लेत हैं, ससिहिं सीतकर नाँव।।

संस्कृत-साहित्य के इस प्रकार के विरह-वर्णन प्रेरकतत्त्व हो सकते हैं, किन्तु हिन्दी में इस प्रकार के वर्णन अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखते हैं, इसमें सन्देह नहीं, क्योंकि न तो वे अनुवादवत् ग्रहण किए गए हैं, न बिना उपयुक्त प्रसंग के। तीसरा बरवै मीराँ की "आँगुरिया की मूदड़ी रे आवन लागी बाँह" का स्मरण कराता है :

अब जीवन की है कपि आस न कोइ।
कनगुरिया कै मुँदरी कंकन होइ।।

अत्युक्तिपूर्ण शैली में वर्णित सीता की विरह-व्यथा की सूचना हनुमान् उसी शैली में राम को दे देते हैं। अंतिम बरवै भ्रान्तिमान एवं अत्युक्ति अलंकारों से सम्पन्न है :

सरद चाँदनी संचरत चहुँ दिसि आनि।
बिधुहि जोरि कर बिनवति कुलगुरु जानि।।

लंकाकाण्ड में केवल एक बरवै है; काण्ड नाम न छोड़ने के कारण। उत्तर-काण्ड में सत्ताईस बरवै हैं। यह काण्ड आकार में सबसे बड़ा है। इसमें आदि से अन्त तक भक्ति-चर्चा की गई है। मानस, कवितावली और गीतावली के उत्तर-काण्ड भी भक्ति से आपूर्ण हैं किन्तु उनमें अन्य वर्ण्य-विषय भी सम्मिलित हैं। बरवै-रामायण के उत्तरकाण्ड का केवल भक्तिपरक रूप इस लघुकाव्य के अन्य

काण्डों में भक्ति की अपेक्षाकृत अल्प अभिव्यक्ति की क्षतिपूर्ति करता प्रतीत होता है। आरम्भ के दो बरवै पढ़कर लगता है कि इस ग्रंथ की रचना चित्रकूट में हुई थी :

चित्रकूट पयतीर सो सुरतरु-बास।
लषन राम सिय सुमिरहु तुलसीदास।।
पय नहाइ फल खाहु, परिहरिय आस।
सीयराम-पद सुमिरहु तुलसीदास।।

इस काण्ड में भक्ति-प्रपत्ति का सुन्दर एवं प्रभावी वर्णन हुआ है, जिसका विशद रूप मानस और विनयपत्रिका इत्यादि में प्राप्त होता है। कलियुग में भक्ति की एकान्त उपादेयता, भक्ति की सरलता-सुगमता, नाममहिमा तथा इसके प्रसंग में मानस इत्यादि के सदृश शिव-वाल्मीकि-अगस्त्य इत्यादि के उल्लेख तुलसीदास के सशक्त सूचक हैं। मानस और दोहावली के "जेहि सुमिरत भे भाँग ते तुलसी तुलसीदास" से मिलते-जुलते उद्गार यहाँ भी प्राप्त हो जाते हैं :

केहि गिनती मँह? गिनती जस बन घास।
राम जपत भए तुलसी तुलसीदास।।

मानस और दोहावली के "एक भरोसो, एक बल, एक आस बिस्वास" का दर्शन बरवै-रामायण में भी हो जाता है :

नाम भरोस, नाम बल, नाम सनेहु।
जनम-जनम रघुनन्दन तुलसिहि देहु।।

बरवै-रामायण तुलसीदास की आकाशवत् विराट् प्रतिभा की अलंकारवाद-चमत्कारवाद-दिशा है। इसमें परवर्ती रीतिकाल की अनेक प्रवृत्तियों के दर्शन किए जा सकते हैं। शृंगार के संयोग-वियोग पक्षों की प्रधानता होते हुए भी, बरवै-रामायण तुलसी-रस से सम्पन्न है। तुलसीदास के सम्यक् आकलन में यह उत्कृष्ट लघु-कलाकृति अतीव सहायक सिद्ध होती है।

१५

श्रीकृष्णगीतावली

श्रीकृष्णगीतावली इकसठ पदों का लघु गीतिकाव्य है जिसमें कृष्णचरित के लीला, विरह, भ्रमरगीत तथा द्रौपदी-चीर-विस्तार प्रभृति प्रसंगों का वर्णन किया गया है। ऐसा प्रसिद्ध है कि इस काव्य की रचना गोस्वामीजी ने मथुरा-वृन्दावन-यात्रा के समय की थी। अनेक पद सूर के हैं जिनमें यत्किञ्चित् परिवर्तन कर दिया गया है। ऐसे अनेक पद गीतावली में भी हैं। यह परवर्ती तुलसी-भक्तों का कार्य प्रतीत होता है। श्रीकृष्णगीतावली आकार-प्रकार में लघु तथा सामान्य गीतिकाव्य हो सकता है किन्तु उसकी सृजन-भावना गुरु तथा असामान्य ही मानी जाएगी। राम और कृष्ण भारतीय संस्कृति के नेत्र हैं। राम और कृष्ण हिन्दुत्व के बाहु हैं। राम और कृष्ण भारतीय धर्म-साधना और साहित्य-रचना के सर्वोपरि आधार हैं। उदार एवं विशाल भारतीय समन्वय-साधना एवं अद्वैत-भावना ने दोनों को एक माना है। राम कृष्ण हुए; कृष्ण राम थे। महाभारत में कृष्ण कहते हैं, "धनुर्धारियों में राम मैं ही हूँ।" मध्यकालीन भक्तों ने राम और कृष्ण में कोई अन्तर नहीं माना। सूर ने अपने सागर में राम का चरित गाया है। मरुभूमि की मंदाकिनी मीराँ ने राम और कृष्ण को एकार्थक माना है। रहीम ने राम और कृष्ण के प्रति एकरस-भावना व्यक्त की है और तुलसी ने श्रीकृष्णगीतावली रची है। मानस में शिव कामदहन के पश्चात् रति के विलाप एवं स्तुति करने पर वर-दान के प्रसंग में कहते हैं :

जब जदुबंस कृष्न अवतारा। होइहि हरन महा महिभारा ॥
कृष्न-तनय होइहि पति तोरा। बचनु अन्यथा होइ न मोरा ॥

विनयपत्रिका में राम-कृष्ण-ऐक्य कई स्थानों पर वर्णित है, यथा :

सोइ सुकृती, सुचि, साँचों, जाहि राम ! तुम रीझे।···
सुर-मुनि-बिप्र बिहाय बड़े कुल, गोकुल-जनम-गोपगृह लीन्हो।
बायों दियो बिभव कुरुपति को, भोजन जाइ बिदुर घर कीन्हो ॥

उक्त पंक्तियों में राजवंशीय वसुदेव-देवकी के पुत्र, मथुरा के कारागार में उत्पन्न कृष्ण को गोपवंश में जन्म लेने वाला कहना तुलसी की प्रसंगानुकूल भावुकता की शक्ति का परिचायक है। सूर प्रेम से पुलकित होकर बारम्बार कृष्ण को

'अहीर' कहते-कहाते हैं। मानस में परिहासवश "अहै कुमार मोर लघुभ्राता" अथवा करुणावश "मिलइ न जगत सहोदर भ्राता" प्रभृति राम-वाक्य तुलसी की ऐसी ही भावुकता की शक्ति के परिचायक हैं। गोप-गृह में जन्मे कृष्ण सूर्यवंश में जन्मे राम ही हैं। छोटी-सी श्रीकृष्णगीतावली तुलसीदास की उस विराट् समन्वय-साधना की प्रतीक है, जिसने भारतीय धर्म-साधना को विश्रृंखल नहीं होने दिया, जिसने सदैव उसे सशक्त बनाया, जिसने उसे गौरवशाली रूप प्रदान किया।

तुलसीदास की समन्वय-साधना पूर्ण और शालीन थी। कतिपय कृष्णभक्त-सम्प्रदायों में कृष्ण को पूर्णावतार एवं राम को अंशावतार माना और कहा जाता है। रामभक्तों के रसिक सम्प्रदायों के अनुयायियों के अनुसार रासलीला तो वास्तव में राम ने की थी, वे रामावतार में निन्यानबे रास कर चुके थे; एक शेष रास उन्होंने कृष्णावतार में किया। तुलसीदास की वाणी में ऐसे संकीर्ण उद्गार कहीं नहीं मिलते। उनकी शिवभक्ति भी अत्यन्त शालीन तथा उच्चकोटि की है।

श्रीकृष्णगीतावली के इकसठ पदों में तेईस बाल-लीला, नौ कृष्ण-प्रवास पर विरह-वर्णन, सत्ताईस भ्रमरगीत तथा दो द्रौपदी-चीर विस्तार से सम्बन्धित हैं। सम्भवतः यह कृति किसी एक समय अथवा किसी एक विषय को ध्यान में रखकर नहीं रची गयी। इसके पद विभिन्न अवसरों पर रचे गए लगते हैं। इसकी रचना बिलावल, ललित, आसावरी, केदारा, गौरी, मलार, नट, कान्हरा, धनाश्री और सोरठ रागों में हुई है। तुलसीदास छन्दःशास्त्र में निष्णात थे; यह रामचरित-मानस, कवितावली तथा बरवै-रामायण से स्पष्ट हो जाता है। तुलसीदास गीतिकाव्य में निष्णात थे; यह विनयपत्रिका, गीतावली तथा श्रीकृष्णगीतावली से स्पष्ट हो जाता है। विनयपत्रिका वर्ण्य-विषय के आधार पर एक मुक्तककाव्य है। श्रीकृष्णगीतावली का नाम और उसके कोमल वर्ण्य-विषय उसे गीतिकाव्य का रूप प्रदान करते हैं। गीतावली भी नाम और वर्ण्य-विषय की उभय दृष्टियों में गीतिकाव्य है।

श्रीकृष्णगीतावली की भाषा प्रसंगानुकूल है; व्रज। सत्यनारायण कविरत्न के शब्दों में इसी मधुर भाषा में कृष्ण ने यशोदा से 'माखन-रोटी' माँगी थी। भाषा-वैज्ञानिक अथवा इतिहासविद् इस स्थापना पर आपत्ति करेंगे, जो बौद्धिक दृष्टि से ठीक भी है, किन्तु भावात्मक दृष्टि से कृष्ण और व्रजभाषा एक-दूसरे के सूचक बन गये हैं। श्रीकृष्णगीतावली का आरम्भ वात्सल्य रस के पदों से होता है। कवितावली का आरम्भ भी वात्सल्य रस के पदों से होता है, यद्यपि वहाँ आलम्बन रामादि हैं। गीतावली का आरम्भ राम-जन्म के वर्णन से होता है तथा उसमें भी वात्सल्य रस के अनेकानेक पद दृष्टिगोचर होते हैं। मानस में यथास्थान वात्सल्य रस के उत्कृष्ट वर्णन प्राप्त होते हैं। वात्सल्य रस के सम्राट् सूरदास के पश्चात् इस दृष्टि से भी तुलसीदास का स्थान अन्यतम है। उन्होंने संयोग और

वियोग दोनों वात्सल्य पक्षों के अच्छे वर्णन किए हैं। संस्कृत-कविता में वात्सल्य के वर्णन अपेक्षाकृत अल्प हुए हैं। रामायण, रघुवंश और भागवत में वात्सल्य-वर्णन हुए अवश्य हैं पर इस दिशा में सूरसागर की समता कोई ग्रंथ नहीं कर सकता। संस्कृत के अनेक आचार्यों ने वात्सल्य को रस नहीं माना। मुनीन्द्र, भोज और विश्वनाथ ने ही वात्सल्य को रस का सम्मान प्रदान किया है। साहित्य-दर्पण में विश्वनाथ ने वात्सल्य-रस की परिभाषा देते हुए उसके अंग-उपांग विवेचित किए हैं किन्तु उदाहरण संयोग-वात्सल्य (कालिदास के रघुवंशम् से) का ही दिया है, अर्थात् वियोग-वात्सल्य पर ध्यान ही नहीं दिया, यद्यपि चाहने पर इसका उदाहरण भी दिया जा सकता था। संस्कृत काव्य-शास्त्र में वात्सल्य-रस की उपेक्षा ही दृष्टि-गोचर हो पाती है। हिन्दी में वात्सल्य की रस-स्थिति पर कोई मतभेद नहीं है। इसका कारण सूर और तुलसी जैसे वात्सल्य-रस के उत्कृष्ट कवि हैं। आधुनिक काल में सूर के उत्तराधिकारी हरिऔध और तुलसी के उत्तराधिकारी मैथिली-शरण ने प्रियप्रवास और यशोधरा में अच्छे स्तर के वात्सल्य-वर्णन किए हैं।

श्रीकृष्णगीतावली में, सूरसागर की परिपाटी पर, बाललीला का अच्छा गान किया गया है। मातृ-चेष्टाओं और बाल-चेष्टाओं के वर्णन स्वाभाविक और चित्रमय हैं। बालक की इच्छाओं, ईर्ष्याओं, शोभाओं इत्यादि से लेकर उसके कारण प्राप्त उपालम्भों तक के वर्णन इस लघु काव्य में प्राप्त होते हैं। रचना पर सूर का प्रभाव स्पष्ट है। किन्तु इसमें ऐसे स्थान भी हैं जहाँ तुलसीदास के व्यक्तित्व के दर्शन अनायास हो जाते हैं। पहले पद में ही "तुलसी प्रभु प्रेमबस्य मनुज-रूपधारी" का उल्लेख तुलसी की सोद्देश्य प्रतिभा की सूचना दे देता है। प्राय: रामावतार लोकरक्षण एवं कृष्णावतार लोकरंजन का सूचक माना जाता है। 'प्रेमबस्य' शब्द इसी दिशा की ओर संकेत करता है। किन्तु इसका यह अभि-प्राय कदापि नहीं कि तुलसीदास गीता के :

यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्यानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे-युगे ॥

के चिरंतन आश्वासन संदेश से अनभिज्ञ थे। इससे वे भली-भाँति परिचित थे। निराशा का अंधकार विदीर्ण करते इस आशा का प्रकाश विकीर्ण करने वाला यह संदेश उनके मानस का भी प्रमुख संदेश है :

जब-जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी ॥
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी ॥
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा ॥

कृष्णावतार का मूल कारण यही था :

जब जदुबंस कृष्ण अवतारा। होइहि हरन महा महिभारा।।

किन्तु यहाँ महाभारत के कृष्ण का नहीं, भागवत के कृष्ण की 'लीलाओं' का वर्णन करना है। इसलिए प्रथम पद में ही 'प्रेमबस्य' शब्द का सार्थक प्रयोग कर दिया गया है।

कृष्णभक्तों ने शिव का उल्लेख कम किया है। कहीं-कहीं उनका प्रयोग कृष्ण-महिमा की साम्प्रदायिक दृष्टि से भी किया गया है। किन्तु विराट् भारतीय संस्कृति के गंभीर समन्वय-मर्मी तुलसीदास "कान्ह सो सुवन तो को महादेव दियो है।" के मुनि-कथन द्वारा इस लघु कृति को भी उदारता से सम्पन्न कर देते हैं। मानस के राम की शिव-पूजा इस उदारता की पराकाष्ठा का दर्शन कराती है। शिव-रहित भारतीय संस्कृति अपूर्ण ही रह सकती है, पूर्णता के कवि तुलसीदास इस सत्य का पूर्ण एवं सहज सम्मान करते थे।

कृष्णकाव्य में विबुधवृन्द द्वारा पुष्पवर्षा के वर्णन प्रायः नहीं किए गए, परंतु तुलसीदास ने अपनी सहज प्रवृत्ति के अनुसार 'बरसै सुमन' की सुरभि से श्रीकृष्णगीतावली को सुरभित कर दिया है। गोचारण-काव्य-परंपरा में अपना प्रभावी एवं स्वाभाविक योगदान करते हुए भी वे इस दिव्य सुरभि का विस्मरण नहीं करते :

टेरि कान्ह गोबर्धन चढ़ि गैया।
मथि-मथि पियो बारि चातिक मैं भूख न जाति अघाति न घैया।।
सैल-सिखर चढ़ि चितै चकित चित अति हित बचन कह्यौ बल भैया।
बाँधि लकुट पट फेरि बोलाई सुनि कल बेनु धेनु धुकि धैया।।
बलदाऊ देखियत दूरि तें आवति छाक पठाई मेरी मैया।
किलकि सखा सब नचत मोर ज्यों, कूदत कपि कुरंग की नैया।।
खेलत खात परस्पर डहकत छीनत कहत करत रोगदैया।।
तुलसी बालकेलि सुख निरखत बरसत सुमन सहित सुरसैया।।

गोचारण काव्यसाहित्य का एक उल्लेखनीय अंग है। हिन्दी में सूर गोचारण-काव्य के प्रतिनिधि कवि हैं। गोचारण अथवा पशुचारण प्रकृति के सहज अंक में होता है; मुक्त वातावरण में, मुक्त मनोभावों में। पशुओं को हाँकना, बुलाना, प्यार करना, सीधी गउओं को दुह कर चोरी-चोरी दूध पी जाना, आपस में खेलना-कूदना, लड़ना-झगड़ना, हास-परिहास करना, नाचना-गाना, मध्याह्न में घर से आने वाले भोजन की उत्सुकतापूर्वं प्रतीक्षा करना इत्यादि पशुचारण-काव्य के कुछ मनोहारी बिंदु है, जिनमें से कई की बड़ी अच्छी झलक उपर्युक्त पद में मिल जाती है।

तुलसीदास ने श्रीकृष्णगीतावली में कृष्ण की स्तुति उसी भक्ति-भावना के साथ की है जिससे वे अन्यत्र अथवा सर्वत्र राम की करते हैं। राम, कृष्ण, शिव गणेश, सूर्य, गंगा, हनुमान् इत्यादि सबकी स्तुति तुलसीदास विह्वल-भावना के

साथ ही करते हैं। उनके व्यापक प्रभाव का एक बहुत बड़ा कारण यह अकृत्रिम समन्वय है :

गोपाल, गोकुल-वल्लभी-प्रिय, गोप-गोसुत-वल्लभं।
चरनारविंदमहं भजे भजनीय सुर-मुनि-दुर्लभं॥
घनश्याम काम अनेक छबि, लोकाभिराम मनोहरं॥
किंजल्क-बसन, किसोर-मूरति, भूरि-गुन करुनाकरं॥
सिर केकि-पच्छ, बिलोल कुण्डल, अरुन बनरुह-लोचनं।
गुंजावतंस बिचित्र, सब अँग धातु भवभय-मोचनं॥
कच कुटिल, सुन्दर तिलक भ्रू, राका-मयक-समाननं।
अपहरन तुलसीदास त्रास, बिहार बृंदाकाननं॥

बाललीला के पश्चात्, कृष्ण के व्रज से मथुरा चले जाने पर विरह का वर्णन, सूरसागर के सदृश, श्रीकृष्णगीतावली में भी हुआ है। ये पद रस-निष्पत्ति एवं अलंकरण की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं। इन पर सूर की छाप स्पष्ट है। कई पदों में तो केवल कुछ शब्दों का ही अंतर है।

विरह-वर्णन और भ्रमरगीत हिन्दी कृष्णकाव्य में अन्योन्याश्रित हो गए हैं; सूर के कारण। तुलसीदास की श्रीकृष्णगीतावली का भ्रमरगीत सत्ताईस पदों में प्रसरित है। भ्रमरगीत सूरदास की मौलिक उद्भावना-शक्ति का सर्वोपरि प्रतीक है। भागवत में भ्रमर की चर्चा मात्र हैं। सूर ने भ्रमरगीत के माध्यम से निर्गुण-निराकार के स्थान पर सगुण-साकार, योग के स्थान पर प्रेम ? और ज्ञान के स्थान पर भक्ति का प्रभावी प्रतिपादन करते हुए, चिरन्तन-भावमयी भारतीय संस्कृति की रक्षा में अपना महान् कलात्मक योगदान दिया है। निर्गुण-सगुण विवाद भारत में इस्लाम के आगमन का एक परिणाम मात्र था। प्राचीन भारत ने ब्रह्म की शक्तियों को सीमित करने का अशोभन आयास कभी नहीं किया था। महान् अद्वैतवादी और भारत के सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक शंकराचार्य तक ने सगुण-साकार के प्रति श्रद्धा व्यक्त की है। मध्यकाल में भी इस्लामी एकेश्वर-वाद से अभिभूत तत्त्व ही सगुण-साकार का प्रत्याख्यान करते थे। ऐसे नकारात्मक प्रचारकों का जनता पर कोई बहुत बड़ा प्रभाव नहीं पड़ा। इसका कारण भारतीय जनता की नकारात्मकता के प्रति अरुचि है। तुलसीदास निर्गुण-निराकार के अनावश्यक प्रचार-प्रसार के प्रबल विरोधी थे, क्योंकि वह कला-मयी, सौंदर्यमयी, भावमयी भक्ति के अनुकूल नहीं बैठता था। उनको निर्गुण-निराकार का महत्त्व ब्रह्म-निरूपण तक ही उचित लगता था। वे उसे ब्रह्म की शक्तियों को सीमित करने के उपादान के रूप में स्वीकृत करने को प्रस्तुत न थे। उनकी भ्रमरगीत-रुचि का भी यही कारण है। कवितावली के उत्तरकाण्ड में, प्रसंग न होते हुए भी, उन्होंने तीन छन्दों (दो सवैये, एक कवित्त : संख्या १३३-

१३४-१३५) में भ्रमरगीत गाया है। भ्रमरगीत निवृत्ति पर प्रवृत्तिसम्पन्न जीवन का विजय-गीत है। भारतीय साधना निवृत्ति का महत्त्व मानती है। किन्तु वह प्रवृत्ति का उचित सम्मान भी करती है। यह स्वाभाविक भी है। मानवता न कोरी निवृत्ति है, न कोरी प्रवृत्ति। वह प्रवृत्ति की ऐसी पावनधारा है, जो निवृत्तिसागर की ओर प्रवहमान है। प्रवृत्ति-निवृत्ति का समानुपात भारतीय संस्कृति का उच्चतम कीर्तिमान है। तुलसीदास भारतीय संस्कृति के पूर्ण ज्ञाता थे। वे उसे अस्थायी कारणों से अभिभूत व्यक्तियों द्वारा विकृत किए जाते नहीं देख सकते थे। इस दिशा में उनका योगदान महानतम है, जो उनके प्रत्येक ग्रंथ में व्याप्त है। भ्रमरगीत इस योगदान का एक उल्लेखनीय बिन्दु है।

भ्रमरगीत-परंपरा हिन्दी-साहित्य की एक महान् विभूति है। सूरदास, परमानंददास, नंददास, तुलसीदास, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, रत्नाकर, सत्यनारायण कविरत्न, मैथिलीशरण, रसाल इत्यादि कवियों ने इस परंपरा को अत्यन्त गौरवशालिनी बना दिया है। इस परंपरा के आदिकवि और उत्तमकवि सूर हैं। वे अत्यन्त तर्कसंगत और भावसंगत, व्यवहारसंगत और कलासंगत शब्दों में भ्रमरगीत का उद्देश्य इन शब्दों में घोषित करते हैं:

> अविगत गति कछु कहत न आवै।
> ज्यों गूँगेहि मीठे फल कौ रस अंतरगत ही भावै॥
> परम स्वाद सबही जु निरंतर अमित तोष उपजावै।
> मन बानी कौ अगम अगोचर सो जानै जो पावै॥
> रूप रेख गुन जाति जुगुति बिन निरालम्ब मन चक्रित धावै॥
> सब विधि अगम बिचारहि तातें सूर सगुन लीलापद गावै॥

तुलसीदास भी अत्यन्त स्वाभाविक शब्दों में गोपिकाओं से निवेदन कराते हैं:

> ऊधौ, या ब्रज की दसा बिचारौ।
> ता पाछे यह सिद्धि आपनी जोगकथा बिस्तारौ॥
> जा कारन पठए तुम माधव सो सोचहु मन माँहीं।
> केतिक बीच बिरह परमारथ जानत हौ किधौं नाहीं॥
> परम चतुर निज दास स्याम के संतत निकट रहत हौ।
> जल बूड़त अवलंब फेन को फिर फिर कहा कहत हौ॥
> वह अति ललित मनोहर आनन कौने जतन बिसारौं?
> जोग जुगुति अरु मुकुति बिबिध बिध वा मुरली पर बारौं॥
> जेहि उर बसत स्याम सुंदर घन तेहि निरगुन कस आवै।
> तुलसिदास सो भजन बहावौ जाहि दूसरो भावै॥

मेरे मस्तिष्क में भ्रमरगीत के उद्देश्य पर विचार करते-करते धारावाहिक रूपक (अलेगरी) का बिंदु व्यापक हो रहा है। भारत में निर्गुण-निराकार

की एकांगी चर्चा इस्लाम के आगमन का परिणाम थी। वेद सर्वत्र देव-बिम्बों एवं मानवीकरणों से सम्पन्न रहा है। उपनिषद् का मुख्य प्रतिपाद्य निर्गुण-निराकार ब्रह्म है, किन्तु उसमें कहीं सगुण-साकार का खण्डन नहीं है। ब्रह्म-सूत्र सगुण-साकार को निर्गुण-निराकारवत् महत्त्वपूर्ण समझता है। अवतारवाद अहंब्रह्मास्मिवाद का व्यक्त विस्तार है। अवतारवाद "न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्" की चरम उपलब्धि है। किन्तु इस्लाम-अभिभूत व्यक्ति इस तत्त्व को नहीं समझते थे। उनको तत्कालीन राजनैतिक और सामाजिक स्थितियों से भी प्रेरणा प्राप्त होती थी। इस्लाम के पैग़म्बर मोहम्मद कट्टर एकेश्वरवादी थे, वे एक वैयक्तिक ईश्वर (पर्सनल गॉड) की सत्ता पर कठोर विश्वास रखते थे। उनका एकेश्वरवाद अद्वैतवाद से नितान्त भिन्न है। अद्वैतवाद ब्रह्मवाद है, जो प्रकृति, प्राण और प्रभु को तत्त्वत: अभिन्न अर्थात् एक मानता है। मोहम्मद ईश्वर, जीव और जगत को भिन्न-भिन्न मानते थे; वे त्रैतवादी थे। उनका ईश्वर सब-कुछ पैदा करता है और कुछ नहीं पैदा करता। उनका ईश्वर सब-कुछ देखता है, सब-कुछ सुनता है पर करता अपनी इच्छा के अनुसार है। मोहम्मद एक ओर ईश्वर के शक्ति-दयादि गुणों की चर्चा करते हैं; दूसरी ओर उसे निर्गुण मानते हैं। मोहम्मद एक ओर ईश्वर का जगत् की रचना करने तथा इसके बाद अर्श पर आ बिराजने की चर्चा करते हैं; दूसरी ओर उसे निराकार मानते हैं। भारत के मध्यकालीन निर्गुण-निराकारवादियों पर मोहम्मद का प्रभाव पड़ा अवश्य, पर उपनिषद् के ब्रह्मवाद अथवा सर्ववाद के साथ। यत्र-तत्र उन्होंने निर्गुण, निराकार, योग और ज्ञान का प्रचार अपने को दिव्य वार्तावाह घोषित करते हुए किया; मोहम्मद के सदृश। भ्रमरगीत के उद्धव मोहम्मद या कबीर या अन्य वार्तावह के प्रतीक हैं। वे कृष्ण या ईश्वर का संदेश देने आए हैं। गोपिकाएं उनके दूतत्व को मानती हैं। पर शंका के साथ। गोपिकाएँ भारतीय जनता का प्रतीक हैं। उन्हें संदेश की गुरुता स्वीकार है, व्यावहारिकता नहीं। व्रज-भूमि भारत-भूमि की प्रतीक है; नया संदेश उसके अनुकूल नहीं है। मथुरा अरब इत्यादि इस्लामी देशों का प्रतीक है, जहाँ के लिए यह संदेश उपयुक्त हो सकता है। इस प्रतीक-विधान पर अथवा भ्रमरगीत के रूपक-काव्य होने पर बहुत-कुछ कहा जा सकता है। यहाँ इतना पर्याप्त है।

श्रीकृष्णगीतावली के अंतिम दो पद द्रौपदी-चीर-विस्तार से सम्बद्ध हैं। द्रौपदी-चीर-विस्तार-कथा प्रपत्ति-प्रतिपादन के एक प्रभावी बिन्दु के रूप में पुराण काल से ही प्रख्यात रही है। विष्णु द्वारा गजेन्द्र-मोक्ष, राम द्वारा विभीषण शरणदान, कृष्ण द्वारा द्रौपदी-चीर-विस्तार इत्यादि प्रकरण भक्तिमार्ग को सशक्त करने में अतीव सहायक सिद्ध हुए हैं।

१६

रामललानहछू

रामललानहछू तुलसीदास की, अवधी में रचित, सबसे छोटी कृति है। इसमें केवल बीस सोहर छन्द अथवा चालीस तुक अर्थात् अस्सी पंक्तियाँ हैं। सोहर या सोहला या सोहिलो उत्तर भारत के अनेक अंचलों, विशेषतः ग्रामों, में पुत्रजन्म, अन्य शुभ अवसरों तथा विवाहादि के हर्षपूर्ण संस्कारों में नारियों द्वारा गाया जाता है। ऐसे अवसरों पर नाइन पैर धोकर नाखूनों पर नहरनी फिराती है। इसलिए इस ग्रन्थ का शीर्षक नहछू है। नहछू का प्रचलन उत्तर भारत के दिल्ली, उत्तर-प्रदेश, बिहार आदि के क्षेत्रों तक प्रसरित है। तुलसी-ग्रन्थावली (भाग दो) में इस लघुतम ग्रन्थ के प्रसंग की सम्भावना इन शब्दों में व्यक्त की गई है, "रामचन्द्र तथा लक्ष्मणजी मिथिला में थे और वहीं एकाएक विवाह निश्चित हो जाने पर अयोध्या से बरात वहाँ गई थी अतः यह नहछू बिवाह के समय का नहीं हो सकता है। यह कर्णवेध या यज्ञोपवीत के समय का हो सकता है।" नवें तथा दसवें छन्दों के अन्तिम चरणों में 'दूलह' तथा 'बर' शब्दों के प्रयोग के कारण उक्त वाक्य लिखे गये हैं। लोकगीतों में दूलह या बर या बन्ना इत्यादि शब्दों के प्रयोग शुभावसरों के प्रतीक भी माने जाते हैं। दूसरे, कौसल्या राम को गोद में लेकर बैठती हैं। अतएव उक्त सम्भावना समीचीन प्रतीत होती है।

नहछू तुलसी-कृत है या नहीं? यह विषय विवादास्पद है। इसकी कुछ पंक्तियाँ नारी-अंगों पर इतना अधिक रीझती दिखलाई पड़ती हैं कि मिश्रबन्धु प्रभृति तुलसीदास के मर्यादावाद के पारखी इसे किसी अन्य कवि या लोककवि की कृति मानते हैं जिसने अपनी कृति को गौरव प्रदान कराने के लिए महाकवि का नाम लिख दिया है। निस्सन्देह नहछू में ऐसी पंक्तियाँ, रचना की लघुता को देखते, बहुत अधिक हैं :

> अहिरिनि हाथ दहेड़ि सगुन लेइ आवइ हो।
> उनरत जोबनु देखि नृपति मन भावइ हो।।
> रुपसलोनि तँबोलिनि बीरा हाथइ हो।
> जाकी ओर बिलोकहि मन तेहि साथहि हो।।...
> नैन बिसाल नउनिया भौं चमकावइ हो।...

'दहेंड़ी' को दोनों हाथों से पकड़ने इत्यादि के प्रसंगों में बिहारी ने भी गहरी रुचि दिखलाई है, किन्तु यहाँ कवि तुलसीदास हैं और 'नृपति' दशरथ। ऐसे तथा:

काहे रामजिउ साँवर, लछिमन गोर हो।
कीदहुँ रानि कौसलहि परिगा भोर हो॥
राम अहहिं दसरथ कै लछिमन आन क हो।
भरत सत्रुहन भाइ तौ श्री रघुनाथ क हो॥

उक्त प्रकार के तीव्र व्यंग्यों के कारण भी कुछ विद्वानों को नहछू के तुलसीकृत होने में आपत्ति है। किन्तु श्री सद्‌गुरुशरण अवस्थी जैसे विद्वानों ने इसे तुलसीकृत माना है। मिर्ज़ापुर के प्रसिद्ध रामायणी एवं भक्त रामगुलाम द्विवेदी, जिनका ग्रिअर्सन जैसे विदेशी विद्वानों पर भारी प्रभाव रहा है तथा जिनके द्वारा प्रतिपादित तुलसीदास का १५८९ विक्रमी जन्म-सम्वत् पर्याप्त मान्यता प्राप्त कर चुका है, तुलसी-साहित्य के मर्मी छक्कनलाल जी, तुलसी-ग्रन्थावली के सम्पादकत्रय सर्वश्री रामचन्द्र शुक्ल, भगवानदीन 'दीन' एवं व्रजरत्नदास आदि ने इसे तुलसीकृत माना ही है। स्वर्गीय डॉ० माताप्रसाद गुप्त को नहछू की एक ऐसी प्रति प्राप्त हुई थी जिसमें तथाकथित उल्लंग अंश जैसा कुछ भी नहीं था। संक्षेप में, नहछू के तुलसीकृत होने पर विवाद है।

मेरे विनम्र मत से नहछू तुलसीकृत ग्रन्थ है तथा अपने लघुतम कलेवर में भी उस महाकवि की गुरुतम प्रतिभा का एक प्रभावशाली ज्योति-बिन्दु है। उल्लंगता एवं अश्लीलता की अत्यधिक चर्चा शताब्दियों की परतन्त्रता के कारण उत्पन्न पौरुष एवं कलारुचि के ह्रास का परिणाम है। ऋग्वेद, बृहदारण्यकोपनिषद्, रामायण, महाभारत, पुराण, अभिज्ञान शाकुन्तलम्, मेघदूतम् इत्यादि महान् एवं स्वतन्त्रचेता मनीषियों द्वारा प्रणीत कृतियाँ इस तथ्य की प्रतीक हैं। खजुराहो, कोणार्क इत्यादि की महान् कला इस तथ्य की प्रतीक है। मम्मटाचार्य की 'क्वचित् अश्लीले गुणे' की स्थापना तक हम इस तथ्य की सार्थकता के दर्शन कर सकते हैं। तुलसीदास नहछू में लोककाव्य-पद्धति का अनुसरण कर रहे थे। लोककाव्य की एक महती विशेषता उसका पाखण्ड-मुक्त सहज-रूप है। तुलसीदास जैसे महान् पारखी ने इस विशेषता की रक्षा की है। अर्थ एवं काम पुरुषार्थ-अंग हैं। भारतीय संस्कृति के तत्त्वज्ञाता तुलसीदास इसे भली-भाँति समझते थे। नहछू में, लोककाव्य की परिपाटी पर ही चलते हुए, उन्होंने ऐश्वर्य के वर्णन भी किये हैं। नाइन की सम्पन्नता से सामाजिक ऐश्वर्य की महानता का अनुमान लगाया जा सकता है :

नाउनि अति गुनखानि तौ वेगि बोलाइय हो।
करि सिंगार अति लोन तौ बिहसति आइय हो॥

कनन-चुनिन सों लसित नहरनी लिय कर हो।
आनँद हिय न समाइ देखि रामहि बर हो॥
कानन-कनक तरीवन, बेसरि सोहइ हो।
गजमुकुता कर हार कंठमनि मोहइ हो॥
कर कंकन कटि किंकिनि, नूपुर बाजइ हो।
रानि कै दीन्ही सारी अधिक बिराजइ हो॥

लोकगीत-पद्धति पर रची गई रामललानहछू रचना तुलसीदास की व्यापक दृष्टि का परिचय देती है। उन्होंने इसमें लोकगीतों के ही एक छन्द सोहर का प्रयोग किया है, लोकगीतों के से अकृत्रिम अंग-वर्णन किये हैं, लोकगीतों में प्रयुक्त आभूषण प्रियता का सम्मान किया है, लोकगीतों के से हास-परिहास का प्रयोग किया है। विश्व-साहित्य के शीर्षस्थ महाकवियों में एक होते हुए भी तुलसीदास जन-कवि थे : नहछू इस स्थापना का एक स्वतन्त्र निदर्शन है। उनकी अन्य कृतियों में भी लोक-तत्त्व को पर्याप्त सम्मान प्रदान किया गया है। वे लोककवि थे। वे जनकवि थे।

तुलसीदास के जीवन का एकमात्र उद्देश्य रामभक्ति एवं उसका प्रसार था। इस दृष्टि से उनकी रचनाओं में केवल एक रस है : रामरस। रामरस अंगी है, अन्य रस अंग हैं। तत्त्वतः रस एक है : आठ या नौ या दस या अधिक तो उसके भेद हैं। तुलसीदास का यह एकरस या रामरस नहछू में भी विद्यमान है; आदि में, मध्य में, अन्त में :

आदि सारदा गनपति गौरि मनाइय हो।
रामलला कर नहछू गाइ सुनाइय हो॥
जेहि गाए सिधि होइ परम निधि पाइय हो।
कोटि जनम कर पातक दूरि सो जाइय हो॥
जो पगु नाउनि धोवइ राम धोवावइँ हो।
सो पगधूरि सिद्ध मुनि दरस न पावइँ हो॥
जो यह नहछू गावइँ गाइ सुनावइँ हो।
ऋद्धि सिद्धि कल्यान मुकुति नर पावइँ हो॥

यह रामरस, यह एकरस, यह तुलसीरस भी नहछू को तुलसीकृत घोषित करता है। तुलसीदास ने रामभक्ति एवं इसके प्रचार-प्रसार के उद्देश्य से रामचरितमानस जैसा सार्वभौम महाकाव्य रचा जो राजा-रंक, विद्वान्-मूर्ख, धनी-निर्धन सबके लिये है; विनय-पत्रिका रची जो सिद्धों, साधकों, मनीषियों के लिए है; कवितावली रची जो काव्य-रसिकों, अलंकार-प्रेमियों के लिए है; गीतावली रची जो गेय-व्रजकाव्य-प्रेमियों के लिए है; नहछू रचा जो कुल-ललनाओं के लिए है। तुलसीदास-रूपी रामभक्ति-पीयूषसागर का लघु-बिन्दु नहछू साहित्य में अपना अलग महत्त्व रखता है, इसमें सन्देह नहीं है।

१७

वैराग्य-संदीपिनी

वैराग्य-संदीपिनी अधिकांशत: दोहों, यत्र-तत्र चौपाइयों तथा दो सोरठों में रचित बासठ छन्दों की लघुकृति है, जिसमें सन्त-स्वभाव, सन्त-महिमा, शान्ति-महिमा ये तीन मुख्य वर्ण्य-विषय हैं। यह तुलसी की आरम्भिक कृतियों में एक है, जो सम्भवत: तब लिखी गई थी जब वे विरक्त हुए थे। इसके कुछ दोहे मानस और दोहावली में भी मिलते हैं। प्रथम वन्दनात्मक दोहा अत्यन्त प्रसिद्ध है :

राम बाम दिसि जानकी, लषन दाहिनी ओर।
ध्यान सकल कल्यानमय, सुरतरु तुलसी तोर॥

एकरस या रामरस या तुलसीरस से यह कृति भी सम्पन्न है : सर्वत्र। मानस एवं विनयपत्रिका जैसे महान् ग्रंथों के सदृश वैराग्य-संदीपिनी में भी तुलसीदास निर्गुण-सगुण में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं मानते। वे "तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके" आदि के अद्भुत सामर्थ्य से सम्पन्न उपनिषद् के ब्रह्म से भली-भाँति परिचित हैं :

सुनत लखत श्रुति नयन बिनु, रसना बिनु रस लेत।
बास नासिका बिनु लहै, परसै बिना निकेत॥

मानस में यह ब्रह्म-सामर्थ्य अद्भुत रस की उत्कृष्ट निष्पत्ति इन शब्दों में करता है :

बिनु पद चलइ, सुनइ बिनु काना।
कर बिनु करम करइ बिधि नाना॥
आनन-रहित सकल रस भोगी।
बिनु बानी बकता, बड़ जोगी॥
तन बिनु परस, नयन बिनु देखा।
ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेषा॥

किन्तु वे ब्रह्म, सर्वशक्तिमान एवं सर्वव्यापक ब्रह्म, से अवतार की शक्ति एवं व्यापकता छीनने का दुराग्रह नहीं करते। वैराग्य-संदीपिनी का प्रस्तुत दोहा :

अज अद्वैत अनाम, अलख रूप-गुन-रहित जो।
मायापति सोइ राम, दास-हेतु नर-तन धरेउ॥

मानस में अत्यन्त उपयुक्त उदाहरण के साथ विवेचित किया गया है :

ब्यापक ब्याप्त अखंड अनंता।
अखिल अमोघशक्ति भगवन्ता।।
अगुन अदभ्र गिरा गोतीता।
सबदरसी अनवद्य अजीता।।
निर्मम निराकार निर्मोहा।
नित्य निरंजन सुख-सन्दोहा।।
प्रकृति पार प्रभु सब उर बासी।
ब्रह्म निरीह बिरज अबिनासी।।
इहाँ मोह कर कारन नाहीं।
रबि सनमुख तम कबहुँ कि जाहीं।।
भगत हेतु भगवान प्रभु, राम धरेउ तनु भूप।
किए चरित पावन परम, प्राकृत नर अनुरूप।।
जथा अनेक वेष धरि नृत्य करइ नट कोइ।
सोइ-सोइ भाव देखावहि, आपुन होइ न सोइ।।

तुलसीदास निर्गुण-सगुण या साकार-निराकार में हठपूर्ण भेद के प्रबल विरोधी हैं। मानस में इस विषय पर विशद प्रकाश डाला गया है। वैराग्य-संदीपिनी में इसके ज्योति-कण विद्यमान हैं। अपरिसीम ब्रह्म को सीमित करना तत्त्वतः नास्तिकता है। निर्गुण सगुण का नकारात्मक पक्ष मात्र है। निराकार साकार का विलोम मात्र है। भारतीय साधना अनादि काल से ऐसी नकारात्मकता अथवा विलोमता का विरोध करती आई है। कोई तत्त्व एकपक्षीय नहीं हो सकता। ब्रह्म केवल निर्गुण या निराकार नहीं हो सकता। तत्त्वतः किसी भी ग्रंथ या धर्म में वह ऐसा है भी नहीं।

सन्त-स्वभाव-वर्णन भक्ति-काव्य में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस प्रकार का वर्णन सन्त-जन की सन्तता को सशक्त भी करता है, सामान्य जन को सन्तता की प्रेरणा भी प्रदान करता है। सन्त की पहली पहचान सरलता है; महानता सदैव सरल होती है क्योंकि उसे गौरव-प्रतिपादन के हेतु किसी आयास की अपेक्षा नहीं अनुभूत होती :

सरल बचन भाषा सरल, सरल अर्थमय मानि।
तुलसी सरलै सन्तजन, ताहि परी पहिचानि।।

शीतलता, संयम, नियम, दमन, रामभक्ति, परमार्थ, मितभाषण, समदर्शिता इत्यादि गुण संतों के विशेष लक्षण हैं। किन्तु रामभक्ति का स्थान प्रमुख है। दोहावली में वर्णित चातक-भक्ति वाला प्रसिद्ध दोहा यहाँ इस रूप में है :

राम-भरोसो, एक बल, एक आस, बिस्वास।
राम-रूप-स्वाती-जलद, चातक तुलसीदास ।।

सन्त को प्राप्त अनेक विभूतियों में माया-मुक्ति प्रमुख हैं। मानस में माया की परिभाषा "मैं अरु मोर तोर तैं माया" की गम्भीर संक्षिप्तता में व्यक्त की गई है। वैराग्य-संदीपिनी में "अहंवाद मैं तैं नहीं" सन्त की एक बड़ी पहचान बताई गई है।

संस्कृत-साहित्य की परिपाटी पर, सन्त-महिमा में अतिशयोक्तियों का सुन्दर प्रयोग वैराग्य-संदीपिनी में भी दृष्टिगोचर होता है :

को बरनै मुख एक, तुलसी महिमा सन्त की।
जिन्हके बिमल बिबेक, सेस महेस न कहि सकत ।।
महि पत्री करि सिन्धु मसि, तरु लेखनी बनाइ।
तुलसी गनपति सों तदपि, महिमा लिखी न जाइ।।

वैराग्य-संदीपिनी में शान्ति एवं उसकी महिमा का अच्छा वर्णन हुआ है। भक्ति एवं शान्ति दोनों अन्योन्याश्रित हैं। शान्ति-आधार के कारण ही सन्तजन अहंकार-ज्वाला से मुक्त रहते हैं :

अहंकार की अगिनि में, दहत सकल संसार।
तुलसी बाँचैं सन्तजन, केवल शान्ति अधार।।

अन्त में अपनी विनम्र प्रकृति के अनुसार तुलसीदास 'सृजन' से त्रुटि-सुधार का निवेदन करते हैं; किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वे अपनी कृति को साधारण मानते हैं। सातवें दोहे में वे स्पष्ट कर चुके हैं :

तुलसी बेद-पुरान-मत, पूरन सास्त्र-बिचार।
यह बिराग-संदीपिनी, अखिल ज्ञान की सार।।

आरम्भिक एवं लघुकृति होते हुए भी वैराग्य-संदीपिनी तुलसीरस से सम्पन्न है। अनुप्रास, यथासंख्य, दृष्टान्त, रूपक आदि अलंकारों के प्रयोग इसे शुष्क उपदेश-ग्रंथ नहीं बनने देते। तुलसीदास रूपक के सम्राट् हैं। सांग, निरंग, परम्परित सभी रूपकों की जितनी और जैसी सृष्टि उन्होंने की है, उतनी और वैसी हिन्दी-साहित्य में तो किसी ने की ही नहीं, विश्व भर में किसी ने नहीं की। वैराग्य-संदीपिनी का भी प्रमुख अलंकार रूपक है।

१८

रामाज्ञा-प्रश्न

साहित्यिक दृष्टि से रामाज्ञा-प्रश्न तुलसीदास की सामान्यतम कृति है। इसका अध्ययन करते समय लगता है कि यह तुलसीदास की कृति है ही नहीं। किन्तु जब इसके आद्यंत व्याप्त तुलसीरस (रामरस) पर ध्यान जाता है तब इसे तुलसीकृत मानने की इच्छा उठने लगती है। सारी रचना दोहों में है। कृति अतिलघु नहीं है। आरंभ के दो तथा सात-सात सप्तकों के सात सर्ग मिलकर कुल तीन सौ पैंतालीस दोहों की यह कृति रामललानहछू और वैराग्य-संदीपिनी की तुलना में बड़ी ही है। किन्तु इसका साहित्यिक महत्त्व नगण्य है। कुछ दोहों में रूपक, अनुप्रास, अर्थान्तरन्यास प्रभृति अलंकार दृष्टिगोचर हो जाते हैं; बस। तुलसी-ग्रंथावली भाग दो में इस ग्रंथ का परिचय इन शब्दों में दिया गया है, "गोस्वामी जी ने इसे शकुन विचारने के लिए बनाया है और इसी बहाने रामचरित्र वर्णन किया है। इसमें सात सर्ग हैं और प्रत्येक सर्ग में सात-सात दोहों के सात सप्तक हैं। इसके बहुत-से दोहे गोस्वामी जी के अन्य ग्रंथों से लिए गए हैं। सातवें सर्ग के अन्तिम सप्तक में शकुन विचारने की विधि भी दी गई है। यह पूरा ग्रंथ दोहों में है।"

रामाज्ञा-प्रश्न तुलसीदास के ज्योतिष-ज्ञान का परिचायक है। अपने मित्र काशी के प्रह्लादघाट-निवासी श्री गंगाराम ज्योतिषी के अनुरोध पर उन्होंने इसकी रचना की थी, ऐसा प्रसिद्ध है। ग्रहादि-सम्बद्ध अलंकरण सूर, बिहारी इत्यादि अन्य कवियों में भी प्राप्त होता है, किन्तु रामाज्ञा-प्रश्न यह तथ्य स्पष्ट कर देता है कि ज्योतिष-ज्ञान में हिन्दी-साहित्य का कोई कवि तुलसीदास की समता नहीं कर सकता। इस ग्रंथ के ज्योतिष-सम्बद्ध महत्त्व पर कोई एतद्-विषयक विद्वान ही प्रकाश डाल सकता है।

तुलसीदास का प्रचार-सामर्थ्य अतुलनीय था। राम-भक्ति के सर्वव्यापी प्रचार के उद्देश्य से प्रेरित होकर उन्होंने समाज के प्रत्येक वर्ग के लिए ग्रंथ रचे। रामाज्ञा-प्रश्न इसी प्रचार के एक क्षेत्र से सम्बद्ध है। मानव प्रकृति से ही अंध-विश्वासी है। उसके जीवन की सीमाएँ उसे अंधविश्वास से मुक्त नहीं कर सकतीं। अंधविश्वास के अनेक भावमय एवं कलामय पक्ष भी हैं। उसकी हानिकारिणी

रूढ़ियों का विरोध मात्र उचित है; उसके नाम से ही चौंक पड़ने का नाटक पाखण्डपूर्ण है । तुलसीदास अनेक हानिकारिणी अंधविश्वास रूढ़ियों के प्रबल विरोधी थे। रामचरितमानस में कपट मुनि एवं कालनेमि से सम्बद्ध प्रसंगों के अतिरिक्त कलियुग वर्णन इसके उल्लेखनीय निदर्शन हैं। ब्राह्मणों के पाखण्ड की उन्होंने कई ग्रंथों में कई बार निन्दा की है। 'प्रबल पाखण्ड' और 'मख कर्मजाल' पर प्रहार के लिए उन्होंने बुद्ध तक की स्तुति की है : विष्णु-अवतार के रूप में। यों, बुद्ध, गोरखनाथ, निर्गुणमार्गियों एवं सूफ़ियों इत्यादि की नकारात्मक वेद-पुराण-निन्दादि का उन्होंने तीव्र प्रत्याख्यान किया है। बहराइच में सालार मसऊद ग़ाज़ी की क़ब्र पूजनेवालों का उन्होंने यथार्थवादी शैली में परिहास किया है। किन्तु मानव की स्वाभाविक प्रवृत्तियों से वे भली-भाँति परिचित थे। उनकी प्रतिभा नकारात्मक कभी और कहीं नहीं हुई। वे व्यक्तिगत ख्याति के हेतु क्रांति के उत्तेजक उद्घोष करनेवाले महानुभावों में न थे। उनकी प्रतिभा ध्वंसात्मक नहीं सृजनात्मक थी। मंगल-विचार अथवा शकुन-विचार मानव की एक सार्वभौम प्रवृत्ति है। किसी-न-किसी रूप में यह सर्वत्र एवं सदैव प्रभावी रहती है। शकुन-विचार के सार्वभौम माध्यम से रामकथा एवं रामभक्ति का प्रचार रामाज्ञा-प्रश्न का स्पष्ट उद्देश्य है। रामशलाका प्रश्न, जो मानस से सम्बद्ध है, इस दिशा का अन्य एवं अत्यधिक लोकप्रिय प्रयास है।

कतिपय सूत्र, वैयक्तिक सीमाओं एवं राजनीति-प्रेरित उद्देश्यों की दृष्टि से ही सही, तुलसीदास को क्रांतिकारिणी परिवर्तन-चेष्टाओं का विरोधी घोषित करते हैं। ऐसे सूत्र क्रांति का अर्थ ही नहीं जानते। क्रांति का अर्थ है अनाचार और शोषण का उन्मूलन। यदि कोई अल्पज्ञानयुक्त व्यक्ति क्रांति का अर्थ संस्कृति विनाश समझता है तो उसे विश्व के लेनिन जैसे विख्यात क्रांतिकारी नेता के चरित और चरित्र का अनुशीलन करना पड़ेगा। लेनिन ने टॉल्स्टॉय और पुश्किन का सम्मान किया था। उन्होंने इन प्रभावशाली साहित्यिकों का उच्छेद ध्वंसात्मक समझा था। फलतः क्रांतिमय सोवियत संघ में भी ये साहित्यिक सम्माननीय माने जाते रहे। मानव की भावुकता जिन प्रवृत्तियों का सम्मान करती है अथवा जिनका सम्मान किए बिना वह प्रसन्न नहीं हो सकती उन सबको एकबारगी धता बता देना एक चपलतापूर्ण कार्य है, जिसका कोई दूरगामी परिणाम नहीं निकल सकता। मनोविज्ञान की अवहेलना व्यर्थ है। मानव-इतिहास के एक अद्वितीय क्रांतिकारी एवं सफलतम नेता स्टालिन ने कैंटरबरी के साम्यवादी आर्कबिशप से बातचीत में धर्म की व्यक्तिगत महत्ता स्वीकार की थी। एशिया के महानतम क्रांतिकारी माओ हनुमान् के भक्त थे तथा उन पर 'महाकपिराज' जैसी कविताएँ लिख गए हैं। तुलसीदास को इसी दृष्टि से पढ़ना पड़ेगा। कोई धर्म अंधविश्वासमुक्त नहीं है। सिद्धार्थ का बुद्ध होना, ईसा का

ईश्वर-पुत्र होना, मोहम्मद का रसूलिल्लाह होना इत्यादि बौद्धिक दृष्टि से अंध-विश्वासमूलक-मात्र है। कबीर का 'समरथ का परवाना' और जायसी की 'गाढ़ प्रीति' भी बौद्धिक दृष्टि से अंधविश्वासमूलक है। अतएव, तथाकथित प्रगतिशील तत्त्वों को अपना आलोचना-अभियान थोड़ी सूझ-बूझ से चलाना चाहिए। वैसे भी, नकारात्मकता अन्ततः व्यर्थमूल्य ही सिद्ध होती है।

रामाज्ञा-प्रश्न के सात सर्ग देखकर इसको खण्डकाव्य-शैली की कृति कहना बहुत समीचीन प्रतीत नहीं होता क्योंकि इसमें कथानक के कोई बिन्दु नहीं हैं अथवा एक कथावस्तु नहीं है। राम-कथा का वर्णन है अवश्य, किन्तु अव्यवस्थित रूप में। प्रथम सर्ग के प्रथम सप्तक में दिवस-क्रम से देव-वन्दना की गई है। द्वितीय सप्तक से रामकथा-वर्णन आरंभ होता है, रामजन्म से। तृतीय सप्तक में रामादि के नाना संस्कारों का उल्लेख है। चतुर्थ में सीता-स्वयंवर एवं इससे जुड़ा पंचम सप्तक ही साहित्यिक दृष्टि से सुन्दर हैं। इनमें अनुप्रास, यमक, रूपक तथा क्रमादि अलंकारों के दर्शन होते हैं :

मन मलीन मानी महिप, कोक कोकनद बृंद।
सुहृद-समाज चकोर चित, प्रमुदित परमानंद ॥
मधु माधव दसरथ जनक, मिलब राज ऋतुराज।
सगुन-सुबन नव दल सुतरु, फूलत फलत सुकाज ॥
विनय-पराग सुप्रेम रस, सुमन सुभग संबाद।
कुसुमित काज रसाल तरु, सगुन सुकोकिल नाद ॥

षष्ठ सप्तक में अयोध्या-आगमन का वर्णन है। रामाज्ञा-प्रश्न में, जानकी-मंगल के सदृश, जनकपुर से लौटते हुए पथ पर परशुराम का आगमन दिखलाया गया है। वाल्मीकि-रामायण में ऐसा ही है। इन कृतियों में तुलसीदास की प्रकरण-वक्रता अथवा प्रकरणग्राह्यता के दर्शन नहीं होते। मानस में स्वयंवर के साथ परशुराम-प्रसंग को समाप्त करके विवाह-मंगल का आद्यन्त निर्वाह किया गया है। सप्तम सप्तक में अयोध्या-आगमन-आमोद का उल्लेख है। प्रथम सर्ग बाल-काण्डवत् माना जा सकता है।

द्वितीय सर्ग किसी सीमा तक अयोध्याकाण्ड के सदृश है। प्रथम सप्तक में वनगमन, द्वितीय में वनपथ पर रामादि, तृतीय में चित्रकूट-वास और दशरथ-मरण-चर्चा है। चतुर्थ में केवल शकुन-विचार है। पंचम में भरत की चित्रकूट-यात्रा इत्यादि की चर्चा है। षष्ठ में चित्रकूट-वास और आगे की यात्रा के साथ मानस के अरण्यकाण्ड में वर्णित जयन्त, विराध और अगस्त्य की चर्चा है। सप्तम में पंचवटी-वास और गीधराज से भेंट का क्रम एवं अन्योन्य अलंकारों से सम्पन्न एक दोहा आता है :

मेंट गीध रघुराज सन, दुहुँ दिसि हृदय हुलासु।
सेवक पाइ सुसाहिबहि, साहिब पाइ सुदासु ॥

यह दोहा मानस के अरण्यकाण्ड से सम्बद्ध निम्नलिखित दोहे की स्मृति कराता है :

गीधराज सों भेंट भइ बहु बिधि प्रीति दृढ़ाइ।
गोदावरी निकट प्रभु रहे परनगृह छाइ ॥

द्वितीय सर्ग के दो स्थलों (३-३ तथा ७-७) में सीता के द्वारा वृक्ष-लतादि के सिंचन का उल्लेख है। ऐसा उल्लेख सप्तम सर्ग (६-७) में भी प्राप्त होता है। तीनों उल्लेख प्रसंग-भिन्नता के होते हुए भी एक-से हैं।

सींचति सीय सरोज कर, बये बिटप बट बेलि।
समउ सुकाल, किसान हित, सगुन सुमंगल केलि ॥
निज कर सींचति जानकी, तुलसी लाइ रसाल।
सुभ दूती उनचास भलि बरसा कृषी सुकाल ॥
तुलसी लाइ रसाल तरु, निजकर सींचति सीय।
कृषी-सफल, भल सगुन सुभ, समउ कहब कमनीय ॥

तीनों स्थलों पर उत्तरार्द्ध रामाज्ञा-प्रश्न के शकुन-विचार से सम्बद्ध हैं। तीनों शुभतासूचक हैं। अद्वैततत्त्वमर्मी भारतवर्ष अनादिकाल से प्रकृति की नाना विभूतियों को पूज्य मानता आ रहा है। तुलसीदास सीता के तरु सिंचन को पावन एवं कल्याणकारी बताते हुए भारतीय संस्कृति के गहनतम प्रकृति-प्रेम को संपुष्ट करते हैं। आधुनिक हिन्दी-कविता में भारतीय संस्कृति के प्रमुख चितेरे मैथिली-शरण ने साकेत और पंचवटी में इस परंपरा को सीता के माध्यम से ही गति-शील रखा है। सीता का अर्थ है भूमि, जुती हुई भूमि, भूमि पर जुताई की रेखा। उनका पेड़ों, बेलों, पौधों इत्यादि पर वात्सल्य स्वाभाविक ही है।

तृतीय सर्ग में अरण्य और किष्किन्धा काण्डों को एक कर दिया गया है। प्रथम सप्तक में शूर्पणखा और खर-दूषणादि की, द्वितीय में शूर्पणखा के रावण के पास जाने इत्यादि की, तृतीय में सीता-हरण और जटायु-मरण की, चतुर्थ में केवल शकुन-विचार की, पंचम में कबन्ध और शबरी और हनुमान् और वालिवध की, षष्ठ में सीता की खोज की तैयारी की और सप्तम में सीता की खोज के लिए हनुमान इत्यादि के प्रस्थान की चर्चा की गई है।

चतुर्थ सर्ग के समस्त सप्तकों में पुन: रामजन्म से विवाह तथा अयोध्या-आगमन इत्यादि का वर्णन किया गया है। पंचम सर्ग के प्रथम सप्तक में किष्किन्धा सुन्दर काण्डों के जामवन्त द्वारा हनुमान् को उनके बल का स्मरण कराने तथा हनुमान् का प्रस्थान इत्यादि उल्लिखित हैं। द्वितीय में सुन्दरकाण्ड की कथा के बिन्दु मैनाक, सुरसा, लंकिनी, अशोकवन, त्रिजटा इत्यादि दृष्टिगोचर होते हैं। तृतीय में मुद्रिका-प्रसंग और हनुमान् द्वारा अशोकवन में उन्मुक्त कार्यकलाप

इत्यादि की चर्चा है। चतुर्थ में पुनः शकुन-विचार है। पंचम में पुनः सुन्दरकाण्ड के अक्षयकुमार-संहार, लंका-दहन, हनुमान् के लौटने इत्यादि के बिन्दु दृष्टिगोचर होते हैं। षष्ठ के एक दोहे में विभीषण के राम की शरण में आने की सुन्दर-काण्ड सम्बद्ध तथा शेष में लंका में अपशकुनों एवं वानरों के युद्ध की लंकाकाण्ड-सम्बद्ध चर्चा है। इसके पहले दोहे में मेघनाद के निधन के पश्चात् कुम्भकर्ण के जगाए जाने का वर्णन मानस इत्यादि से एकदम उलटा है :

मेघनाद अतिकाय भट, परे महोदर खेत।
रावन भाइ जगाइ तब, कहा प्रसंगु अचेत।।
उठि बिसाल बिकराल बड़, कम्भकरनु जमुहान।
लखि सुदेस कपि भालु दल, जनु दुकाल समुहान।।

पाँचवें दोहे में रणधीर रावण की वीरता की प्रशंसा की गई है :

बीस बाहु, दस सीस दलि, खंड-खंड तनु कीन्ह।
सुभट-सिरोमनि लंकपति, पीछे पाउ न दीन्ह।।

षष्ठ सर्ग लंका-उत्तर काण्डों का विचित्र संगम है। प्रथम सप्तक में इन्द्र द्वारा अमृत-वर्षा के फलस्वरूप वानर-भालु-वीरों के पुनरुज्जीवित होने तथा पुष्पक-यान में सीता सहित राम के अयोध्या-प्रस्थान इत्यादि का उल्लेख है, द्वितीय सप्तक में अयोध्या-आगमन एवं राज्याभिषेक का वर्णन है। तृतीय के चार दोहों में रामराज्य, किन्तु अन्तिम तीन में रावणादि के नाश का वर्णन है। पाँचवाँ दोहा मन को छूता है; वह रूपक और दृष्टान्त से सम्पन्न भी है :

कुम्भकरन राबन सरिस मेघनाद से बीर।।
ढहे समूल बिसाल तरु कालनदी के तीर।।

चतुर्थ के तीन दोहों में शकुन-विचार और चार में रामराज्य-रामभक्ति की चर्चा है। पंचम में विप्र-बालक की कथा और शकुन-विचार, षष्ठ में रामराज्य और वक-उलूक और यति-श्वान और सीता-त्याग का उल्लेख है। मानस में सीता-त्याग की कथा नहीं है। रामाज्ञा-प्रश्न में, गीतावली के सदृश, उसे स्थान प्राप्त है। तुलसीदास ने यहाँ सीता-त्याग-प्रसंग में राम के लोक-रुचि-रक्षण और अविचल सीता-प्रेम का प्रभावी वर्णन किया है :

सती-सिरोमनि सीय तजि, राखि लोकरुचि राम।
सहे दुसह दुख सगुन गत, प्रिय बियोगु परिनाम।।

सप्तम में लव-कुश के अयोध्या-आगमन और सीता के भूमिप्रवेश इत्यादि का उल्लेख है।

सप्तम सर्ग के प्रथम सप्तक में शकुन-विचार, द्वितीय में ग्रह-प्रभाव-विचार, तृतीय तथा चतुर्थ में परमशकुनमयी भक्ति का प्रतिपादन, पंचम में रामकृष्ण की सर्वोपरिता, षष्ठ में पुनः अयोध्याकाण्ड के दशरथ-मरण और राम-वन-गमन,

सप्तम में शकुन-विचार-पद्धति उल्लिखिति हैं।

रामाज्ञा-प्रश्न शकुन-विचार-सम्बन्धी रचना है। इसमें राम, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न, हनुमान्, सीता, कौसल्या, सुमित्रा इत्यादि के शकुनमूलक उल्लेख राम-भक्ति की व्यापकता के सूचक हैं। तुलसीदास राम से सुसम्बद्ध प्रत्येक व्यक्ति को पावन एवं शुभ मानते हैं; किसी के भी प्रति श्रद्धा रामभक्ति में अवसित होगी, यह निश्चित है। ग्रन्थ का अन्तिम दोहा तुलसीरस (रामरस) से निष्पन्न भी है, रूपक से अलंकृत भी :

गुन बिस्वास, बिचित्र मनि, सगुन मनोहर हारु।
तुलसी रघुबर-भगत-उर, बिलसत बिमल बिचारु॥

१६

विश्वपुरुष, भारतात्मा राम

सम्प्रति भारतवर्ष की चिरन्तन धर्मसाधना जिन आहूत-अनाहूत व्यवधानों-व्यतिक्रमों को अनुभूत कर रही है उनको देखते हुए राम के साथ विश्वपुरुष विशेषण का प्रयोग ज्ञानाभास या अध्यास को विस्मय-विजड़ित कर सकता है। धर्म-साधना के साथ चिरन्तन शब्द का प्रयोग विकासवाद अथवा द्वन्द्वात्मक-भौतिकवाद के निकषों पर चाहे जैसा लगे, "धारणात् धर्ममिति आहुः धर्मो धारयते प्रजाः" के आप्तवाक्य—निकष पर शतशः अनुकूल होगा, इसमें सन्देह नहीं। भारतीय धर्म-साधना आबद्ध नहीं, मुक्त है; भारतीत धर्मसाधना बाह्य नहीं, आभ्यन्तर है; भारतीय धर्मसाधना आस्थामात्र नहीं, सर्वगत है; भारतीय धर्मसाधना युगमात्र नहीं, चिर है। धर्म युग-चिर का सेतु है; धर्म युग-चिर का हेतु है; धर्म युग-चिर का केतु है। अस्तु।

राम के साथ विश्वपुरुष विशेषण की उपयुक्तता विराट् ऊहापोह की अपेक्षा रखती है; यह लिखते हुए मानस विविध-वेदना-तरंगित हो उठता है। पाश्चात्य मेधा के पूर्वग्रह ने भारतवर्ष के नेत्रद्वय राम-कृष्ण को पुराण-कथा कहकर शासित-जन-बुद्धिभ्रम-दृष्टिभ्रम उत्पन्न करने का अथक प्रयास किया है। किन्तु जो मनस्वी-जन परप्रत्ययनेय-बुद्धि की निरुपायता से परिचित हैं उनके लिए सत्य सत्य ही रहेगा। राम ने जीवन की जिस पूर्णता का स्पर्श किया था, राम ने उदात्त आदर्शों को जो क्रियात्मक रूप दिया था, राम के नेतृत्व में उनके अनुजों तथा अनुज-सन्तानों ने जिस विशाल धर्मराज्य की स्थापना की थी, वह सब प्राचीन विश्व को भली-भाँति ज्ञात था, इसके प्रमाण आज भी विद्यमान हैं। प्राचीन मिस्र के सम्राट् रामसेस अथवा रैमसीस महान् का नाम राममूलक था; रामशेष का तद्भवरूप। जिस ऐश्वर्यशाली मिस्र के सम्राट् विवाहोत्सवों पर संगृहीत पार्थिव-शरीर (ममी) का दर्शन आवश्यक समझते थे उन्हें यह भी ज्ञात था कि राम ही शेष रहेंगे, और कुछ नहीं। प्राचीन रोमन नृवंश एवं भाषा की दृष्टियों से ही भारत के सम्बन्धी न थे प्रत्युत वेशभूषा एवं अभिधान-परम्परा में भी उसके अत्यन्त निकट थे। जिसे अंग्रेजी में रोम कहा जाता है वह इटली के उच्चारण में रामा है। रामा के समीप ही सेटा (सीता) भी है। एक पर्वत। इटली, जो भौगोलिक

दृष्टि से 'पश्चिम का भारत' है, एक से दूसरे छोर तक 'रामा' और 'रावाना' से भी सम्पन्न है। मैथ्यू (मत्ती) रचित सुसमाचार (ईसाई-बाइबिल का एक भाग) ईसा के एक पूर्वज का नाम राम बतलाता है। पश्चिमी एशिया, जो पैग़म्बरों की भूमि रही है तथा आज भी यहूदी-ईसाई-मुसलमान बन्धुओं के पावन तीर्थों से आपूर्ण है, राम अल्लाह जैसे नगरों से सम्पन्न है। राम अल्लाह हैं ! ईरान, जिसके अभिधान में आर्य शब्द निहित है तथा जिसका नरेश अभी कल तक आर्य-मिहिर (आर्य-सूर्य) की पदवी से सम्मानित किया जाता था, 'रामसर' जैसे स्वर्गतुल्य स्थानों से सम्पन्न है। पाकिस्तान, जो कल तक भारत का भाग था तथा जिसके निवासी संस्कृति की अधिकांश दृष्टियों से भारतीय हैं, राम-प्रभाव से ओत-प्रोत है। तक्षशिला, जहाँ प्राचीन काल में महान् विश्वविद्यालय स्थित था और उसमें विश्व के महान् वैयाकरण पाणिनि एवं विश्व के महानतम कूटनीतिज्ञ चाणक्य जैसे प्रतिभाशाली महामन्त्री ने शिक्षा प्राप्त की थी, भरत-पुत्र तक्ष द्वारा स्थापित नगर है, इस तथ्य का प्रमाण वाल्मीकि-रामायण में विद्यमान है। वाल्मीकि-रामायण में यह स्पष्ट हो जाता है कि भरत कैकय-देश की राजकुमारी कैकेयी के पुत्र थे। माताकुल-सम्बद्ध युधाजित् उन्हें अयोध्या से कैकय ले जाया करते थे। दशरथ की मृत्यु के समय भी वे कैकय में थे। कालान्तर में राम के अयोध्या-नरेश बन जाने पर उन्होंने गन्धर्वों से अनेक युद्ध किए थे। ये युद्ध अविभाजित भारत के पश्चिमी तथा पश्चिमोत्तरीय अंचलों में हुए थे। कैकय देश स्वयं इन अंचलों में स्थित था। भरत इन अंचलों से भली-भाँति परिचित थे। उनके पुत्र ने यहाँ अपनी राजधानी बनाई थी। राम के पुत्रद्वय लव-कुश द्वारा स्थापित लवपुर (लाहौर) तथा कुशपुर (कसूर) नगर आज भी इन्हीं रूपों में विख्यात हैं। 'रामावतार' के प्रणेता गुरुगोविन्दसिंह ने 'विचित्र नाटक' में लिखा है कि वे लव के वंशज हैं तथा नानक कुश के वंशज थे। और-तो-और, पाकिस्तान के निर्माता मोहम्मद अली जिन्ना की दैनंदिनी में लिखा मिला है कि उनके पूर्वज कुशपुर (कसूर) के निवासी क्षत्रिय (खत्री) थे और उन्हें गर्व है कि वे राम के वंशज हैं ! यह तो हुई भारत से पश्चिम में राम-प्रभाव की चर्चा। इन क्षेत्रों में काल-क्रम तथा इतिहास-गति के कारणों से भारतीय संस्कृति का प्रभाव क्षीण हो गया है। दक्षिण-पूर्व एशिया में ऐसा बहुत कम है। कम्बुज या कम्बोज या कम्पूच्या, जिसका उल्लेख प्राचीन वाङ्मय में विद्यमान है, राम-मन्दिरों से सम्पन्न है। कम्बु+ज अर्थात् घट से उत्पन्न अगस्त्य ऋषि का प्रतीक देश। लावोस का नाम रामपुत्र लव से सम्बद्ध है। थाई देश में बुद्ध के साथ राम भी पूज्य हैं और थाई-भाषा में रामायण विद्यमान है। यव-सुवर्ण (जावा-सुमात्रा) प्रभृति वाङ्मय-वर्णित द्वीपों का देश इण्डोनेसिया धर्म की दृष्टि से इस्लाम का अनुयायी भले ही हो गया हो, संस्कृति के अन्य पक्षों की दृष्टि से राममय है। वहाँ रामलीला होती है। राम वहाँ के राष्ट्र-

नायक (नेशनल हीरो) हैं। और-तो-और, चीन की भाषा (चीनी) में रामायण की रचना हुई थी, जिसकी खोज विश्वविख्यात भाषाविद् एवं भारतविद् स्वर्गीय डॉ० रघुवीर ने की थी। दशरथ-जातक या बौद्ध-रामायण पर आधृत चीनी-रामायण का जापानी अनुवाद जापानी-रामायण के रूप में प्रचलित है। जापान में 'होबुत्सुशू' नामक अन्य रामायण भी लोकप्रिय है। बर्मी, मलेसियाई और सिंहली रामायणें भी राम के विश्वपुरुषत्व की प्रतीक हैं। वे हिन्दुओं के ही पूज्य नहीं हैं; बौद्धों, मुसलमानों, सिखों इत्यादि के पूज्य भी हैं। नेपाल पर राम की छाप सर्वाधिक है; वहाँ जनकपुर है, वहाँ के नरेश राम के वंशज हैं। इस स्थिति में, राम को विश्वपुरुष कहा जाना सर्वथा उपयुक्त है। इस दिशा में पर्याप्त अध्ययन-अनुशीलन भी अपेक्षित है। स्वर्गीय डॉ० रघुवीर, श्री लल्लनप्रसाद व्यास एवं डॉ० रमानाथ त्रिपाठी ने इस दिशा में स्तुत्य कार्य किए हैं।

राम भारत की आत्मा हैं। भारत में जितने रामपुर हैं, उतने अन्य पुर नहीं। जम्मू-कश्मीर में रामवन है तो तमिलनाडु में रामनाथपुरम्। अयोध्या, प्रयाग, चित्रकूट, पंचवटी, रामेश्वरम् प्रभृति नाना-राज्य-व्याप्त तीर्थ राम-सम्बद्ध हैं। रामनवमी, विजयादशमी, दीपावली प्रभृति चिर-जीवन्त पावन-पर्व राम-सम्बद्ध हैं। पुराकाल में जम्बूद्वीप के इस विशाल भरतखण्ड को जिन महतोमहीयान् राष्ट्र-निर्माताओं ने एकप्राण-रूप[1] प्रदान किया था उनमें राम अन्यतम एवं अतुलनीय थे। विन्ध्य को नमित कर दक्षिणावर्त में प्रवेश करने वाले तमिल के आदिग्रंथ-प्रणेता महर्षि अगस्त्य एवं परशु के अग्रभाग से पावन केरल भूमि को अर्णव से ऊपर लाने वाले परशुराम ने जो परम्परा स्थापित की थी, राम ने उसे पूर्णता प्रदान की। राम न होते तो भारतवर्ष रूस-रहित यूरोप के सदृश नाना-देशमय महाद्वीप होता, राष्ट्र नहीं। राम ने इस विराट् आसेतुहिमाचल भूखण्ड को एक-तन-एकप्राण कर दिया। उनके यज्ञ में जो नरेश आए थे वे इस तथ्य के आदि-प्रमाण हैं। शस्त्र-शास्त्र-समन्वय राम भारत के महानतम निर्माता थे। उनकी विराट् यात्राएँ, उनके विराट्-क्षेत्र-व्याप्त भक्त-मित्र, उनके विराट् भूखण्ड-प्रसरित युद्ध, उनके विराट् यज्ञ इत्यादि उन्हें विराट् भारत का प्राण सिद्ध करने के लिए पर्याप्त से पर्याप्त अधिक हैं। आदिकवि महर्षि वाल्मीकि के शब्दों में "समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवान् इव" राम हिमाचल-सागर-पर्यन्त भारत के मानवीकरण थे; समग्र भारत की विराट्-मूर्ति हैं। राम भारत के कण-कण में रम रहे हैं।

राम, कृष्ण के साथ, भारतीय एकता के महानतम प्रतीक हैं। उनसे सम्बद्ध पर्व, उनसे सम्बद्ध साहित्य इत्यादि भारत की एकता को सर्वाधिक स्पष्ट करते हैं।

---

१. देखें मेरा ग्रंथ 'भारत की एकता'।

भारत के प्रत्येक भाग में उनसे सम्बद्ध अभिधान प्राप्त हो जाएंगे। संस्कृति की ज्येष्ठ-श्रेष्ठ दुहिता कविता राम में सर्वाधिक रमी है। जितनी और जैसी कविता राम पर रची गई है उतनी और वैसी कविता संसार में किसी देवता या मानव या दानव या अन्य पर नहीं रची गई। वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति, कम्बन्, एडुतच्छन्, कृत्तिवास, तुलसीदास, केशवदास प्रभृति प्रथम श्रेणी के महाकवियों ने उन पर महान् ग्रन्थों की रचना की है। प्राचीन-अर्वाचीन, उत्तर-दक्षिण, निर्गुण-सगुण, निराकार-साकार, सब राम में एक हो गए। राम बौद्ध-वाङ्मय में विद्यमान हैं; दशरथ-जातक। राम जैन-वाङ्मय में विद्यमान हैं; पउम-चरिउ। निर्गुण-मार्गियों ने राम नाम की महिमा गाई है; कबीर, रैदास, नानक इत्यादि में राम भरे पड़े हैं। इस युग में भी राम का प्रभाव कम नहीं हुआ। गांधी राम-संकीर्तन के परम प्रेमी थे, समाजवादी डॉ० राममनोहर लोहिया ने चित्रकूट में रामायण-मेला लगवाया था। रामराज्य की कल्पना अभिनव राजनीति को भी अत्यन्त प्रिय रही है। आधुनिक भारतीय भाषाओं में राम पर शत-शत ग्रन्थ रचे गए हैं। केवल हिन्दी में आधुनिक राम-काव्य बृहत् प्रबन्ध का विषय है। रामचरित उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', सुमित्रानंदन पंत तथा बलदेवप्रसाद मिश्र इत्यादि कवियों ने रामचरित-चिन्तामणि, साकेत, वैदेही-वनवास, ऊर्मिला, राम की शक्ति-पूजा, 'पुरुषोत्तम राम' तथा 'साकेत-सन्त' आदि महत्त्वपूर्ण रचनाएँ बीसवीं शताब्दी में ही रची हैं। प्रस्तुत निबन्ध के लेखक ने भी 'पुरुषोत्तम' शीर्षक अड़तीस सर्गों के छंद-अन्त्यानुप्रास-मुक्त महाकाव्य की रचना की है। सीता, हनुमान्, रावण इत्यादि पर भी काव्य रचे गए हैं। राम पर रचित स्फुट रचनाएँ गणनातीत हैं। राम-सम्बद्ध लोककथा-साहित्य एवं लोकगीत-साहित्य अत्यन्त महान् है तथा उसमें अनवरत रूप से वृद्धि होती आ रही है। राम काव्य के चिरन्तन महानायक हैं। कविता का आरम्भ उनके चरितगान के साथ हुआ था और उसका विकास अप्रतिहत रूप से होता गया है, होता जाएगा। राम काव्य के अनन्त प्रेरक हैं। मध्यकालीन भारत की आत्मा तथा चिरन्तन भारतीय धर्म-परम्परा के एक अमर प्रतीक गोस्वामी तुलसीदास इस तथ्य से स्वभावतः परिचित थे :

> भगति हेतु बिधि भवन बिहाई।
> सुमिरत सारद आवति धाई॥
> रामचरित सर बिनु अन्हवाए।
> सो भ्रम जाइ न कोटि उपाए॥

और राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त इस तथ्य के जागरूक प्रतिपादक थे :

> राम, तुम्हारा वृत्त स्वयं ही काव्य है,
> कोई कवि बन जाय, सहज सम्भाव्य है।

राम चिरन्तन हैं; राम अनन्त हैं। रामलीला चिरन्तन है; रामलीला अनन्त है। रामकथा चिरन्तन है; रामकथा अनन्त है। रामकाव्य चिरन्तन है; रामकाव्य अनन्त है। क्यों ? क्योंकि जीवन में उदात्त चिरन्तन है, अनन्त है, अपेक्षित है, आवश्यक है। राम उदात्त का आकार थे, राम उदात्त का प्राकार थे; राम-उदात्त का आधार थे। राम उदात्त का आकार हैं, राम उदात्त का प्राकार है, राम उदात्त का आधार है। राम उदात्त का आकार रहेंगे, राम उदात्त का प्राकार रहेंगे, राम उदात्त का आधार रहेंगे।

राम शस्त्र थे, राम शास्त्र थे; राम शस्त्र-शास्त्र-समन्वय थे। शस्त्र-शास्त्र-समन्वय का नाम मानवत्व है। शस्त्र मानवत्व का एक अतुलनीय प्रेरक तत्त्व है। अतिशय कोमल चर्मवाला एवं अतिशय दयनीय जन्म वाला मानव शस्त्र के साहाय्य से ही जीवित बना रह सका है। काष्ठकाल, पूर्वपाषाणकाल, उत्तर-पाषाणकाल, ताम्रकाल, लौहकाल, आग्नेयास्त्रकाल, परमाणुकाल, प्रक्षेपणास्त्र-काल मानव-सभ्यता का इतिहास बता डालते हैं। युद्ध प्रिय हो या अप्रिय, आवश्यक अवश्य रहा है। मानवत्व के अनेकानेक महानतम प्रयास एवं बलिदान युद्ध से ओतप्रोत रहे हैं। राम इस अटल तथ्य से परिचित थे। कृष्ण इस अटल तथ्य से परिचित थे। राम और कृष्ण मानवत्व के नेत्र हैं। वे द्रष्टा न रहे हों, यह सम्भव न था। प्रलय सृष्टि के लिए अनिवार्य है, आवश्यक है। ध्वंस निर्माण के लिये अनिवार्य है, आवश्यक है। सागर-मंथन का शाश्वत रूपक अमृत-विष को बंधु घोषित करता है। राम और कृष्ण सत्य के प्रशांत द्रष्टा थे, सुविधा के उपासक नहीं। इसीलिए वे चिरन्तन लोकनायक हैं। युद्ध-रहित मानवत्व की कल्पना असम्भव है। युद्ध ने विज्ञान के विकास में सर्वाधिक योगदान दिया है। युद्ध ने धर्म के विकास में सर्वाधिक योगदान दिया है। हिन्दू धर्म तथा यहूदी और स्लाम मजहब इसके निदर्शन हैं। प्रतिक्रिया-प्रतिफलित जैन धर्म, बौद्ध धर्म और ईसाई मजहब भी युद्ध से असंपृक्त नहीं रह सके। युद्ध ने कविता के विकास में सर्वाधिक योगदान किया है। वीरता-बलिदान इत्यादि का काव्य में महान् स्थान रहा है। युद्ध ने दर्शन के विकास में भी महत्त्वपूर्ण योगदान किया है; संसार की महानतम दर्शन-गीतिका श्रीमद्भगवद्गीता युद्ध-भूमि में रची गई है। अतएव, युद्ध की निन्दा निस्सार है। किन्तु, युद्ध का प्रकट परिणाम अत्यन्त भयावह होता है। युद्ध में असत्य तथा घृणा का पोषण करना पड़ता है। अनवरत युद्ध मानवत्व में व्याघात उत्पन्न कर सकता है। अतएव, युद्ध को साध्य नहीं माना जा सकता। राम एवं कृष्ण इस तथ्य से भी परिचित थे। राम ने हनुमान् एवं अंगद के माध्यम से शान्ति की दिशा में रुचि व्यक्त की थी, कृष्ण ने स्वयं दौत्यकर्म किया था। राम एवं कृष्ण के महानतम युद्ध व्यक्तिगत लाभ के लिए नहीं लड़े गए थे। विजेता राम किष्किन्धा या लंका में कोई रुचि न रखते थे; वे विजित नगरों में

घुसे तक न थे। उन्होंने हत शत्रुओं के राज्य उन्हीं के अनुजों को प्रदान किए थे। वालि के प्रसंग में तो उन्होंने सुग्रीव को राजा तथा अंगद को युवराज पद प्रदान किए थे; युवराज वालि-पुत्र, सुग्रीव-पुत्र नहीं। संसार के समग्र इतिहास में ऐसा कोई विजेता नहीं मिलता। कृष्ण ने महाभारत का सफल नेतृत्व किया था। किन्तु उन्होंने तिल भर भी व्यक्तिगत लाभ नहीं उठाया। ऐसा उदाहरण अन्यत्र कहाँ मिलेगा? राम का शस्त्रशास्त्र की रक्षा का उपादान था। कृष्ण का शस्त्रशास्त्र की रक्षा का उपादान था।

सहस्राब्दियों से राम के व्यक्तित्व पर कतिपय आरोप लगाए जाते रहे हैं। सम्प्रति साम्प्रदायिक अथवा न्यस्तस्वार्थग्रस्त राजनीतिजीवी इन आरोपों को विशेष चतुरता के साथ दुहरा देते हैं। वही वालि-वध, वही शम्बूक-प्रसंग, वही सीता-त्याग! वालि-वध के प्रसंग में राम की निन्दा करने वाले महानुभाव बौद्धिक व्यायाम के अतिरेक में परिस्थितियों का तनिक भी ध्यान नहीं रखते। राम को सीता के साथ वनवास करते हुए तेरह वर्ष व्यतीत हो चुके थे। चौदह वर्ष के समाप्त होते ही वे अयोध्या-प्रवेश के लिए वचनबद्ध थे क्योंकि वैसा न करने पर भरत प्राणान्त का प्रण कर चुके थे। पिता के प्रण एवं भ्राता के प्राण की रक्षा करनेवाले रामचौदह वर्ष समाप्त होते ही अयोध्या पहुँचना आवश्यक समझते थे। दूसरे,सीता की चिन्ता किसी दीर्घकालीन व्यवधान का अवसर नहीं दे सकती थी। तीसरे, वालि के स्वेच्छाचार-अत्याचारमूलक अपराध स्पष्ट थे। चौथे, एक नया महायुद्ध करना अथवा निराधारप्राय रक्तपात करना उन्हें अभीप्सित न था; एक व्यक्ति के अन्त से समस्या का समाधान उन्हें नीतिसंगत लगा। रही शम्बूक-चर्चा, सो वह वाल्मीकि-रामायण के उस उत्तरकाण्ड में बद्धमूल है जिसे प्रायः समग्र पूर्वग्रहविहीन विद्वन्मण्डली प्रक्षिप्त मानती है। राम का सारा वन-जीवन गुह, निषाद, शबर, वानर इत्यादि जातियों के साथ व्यतीत हुआ। उन सब के प्रति उनका अगाध अनुराग था। अतएव, शम्बूक-कथा परवर्ती जातिप्रथा-विकृति की परिस्थितियों में इसलिए कल्पित की गई जिससे उसे शक्ति प्रदान की जा सके। खेद है, सम्प्रति जो बन्धु वालमीकि एवं रैदास इत्यादि के प्रति आस्था प्रकट करते हैं वे ही इन दो भिन्न-भिन्न रामप्रेमियों के आराध्यनायक राम पर निराधार एवं व्यर्थपरिणाम शब्दाक्रमण करते रहते हैं। जहाँ तक सीता-त्याग का प्रश्न है, वह भी वाल्मीकि-रामायण के उत्तरकाण्ड से सम्बद्ध है; और-तो-और तुलसीदास,नाभादास के शब्दों में वाल्मीकि-अवतार तुलसीदास, तक ने उसे अपने मानस में स्वीकार नहीं किया। परवर्ती नारी-दृष्टिकोण ने इस कथा की कल्पना की है, ऐसा कहना तर्करहित नहीं कहा जा सकता। और, राम के जीवन में कुछ ऐसे बिन्दु भी हों जो सम्प्रति प्रिय न लगें, तो आश्चर्य अथवा आक्रोश कैसा? "कालक्रमेण जगतः परिवर्तमानः" एवं भिन्न रुचिर्हि लोकाः" पर भी

ध्यान दिया जा सकता है। संसार में कौन-सा ऐसा शरीरधारी हुआ है जिसकी कहीं-न-कहीं अथवा कभी-न-कभी निन्दा न की गई हो ? अस्तु।

पूर्ण-मनुष्यत्व के परम-प्रतीक राम सहस्राब्दियों से इतिहास के उत्थान-पतन, व्यवधान-व्यतिक्रम इत्यादि से होते हुए अमरत्व तथा ब्रह्मत्व के अर्थ बनते चले आ रहे हैं। "न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्" तथा "अहं ब्रह्मास्मि" की विराट् व्याख्या भगवान् राम से रहित भारत की कल्पना सम्भव नहीं। अनेक युग आए गए, अनेक सम्राट् आए गए, अनेक महापुरुष आए गए, अनेक नेता आए गए, परन्तु राम आए और आए ही बने रहे, गए नहीं। उनकी महानता को व्याख्या की अपेक्षा नहीं। हमें राम की आवश्यकता है। राम को हमारी आवश्यकता क्या होगी ? सम्प्रति भारत को सशक्त एवं सच्चरित्र राष्ट्र का रूप प्रदान करने के लिए हम सबको राम के चरित एवं चरित्र का व्यापक अनुशीलन करना चाहिए, क्योंकि उनसे हमें सदैव शील एवं शक्ति प्राप्त हुई है और होती रहेगी। 'राम की जय' का अर्थ 'मानवत्व की जय' है, 'भारत की जय' है, 'धर्म की जय' है।

□

अनुक्रमणिका

ख

ग

घ

च

म

ह